नीतिशास्त्र
का
आलोचनात्मक परिचय

फ़िलिप व्हीलराइट

सेन्ट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

नीतिशास्त्र
का
आलोचनात्मक परिचय

(प्रामाणिक अनुवाद)

मूल लेखक
फ़िलिप ह्वीलराइट
डार्टमाउथ कॉलेज, अमेरिका

अनुवादक
मधुकर

सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
१९५३

अनुवादक का वक्तव्य

हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना तो प्रसन्नता की बात है लेकिन हिन्दी में विभिन्न विषयों पर, विशेष कर दर्शन सम्बन्धी, जो पुस्तकें लिखी जा रहीं हैं उनकी लचर भाषा, विषय का टेढ़ा मेढ़ा प्रतिपादन और संदिग्ध विद्वत्ता निराशाजनक है।

इस स्थिति को देखते हुए जब तक तथाकथित विद्वान हिन्दी में प्रामाणिक पुस्तकें लिख सकने की क्षमता प्राप्त न कर लें तब तक अँग्रेज़ी की पुस्तकों का प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करना ही ज्यादा हितकर है।

अनुवाद की प्रामाणिकता मूल शब्दों का ज्यों का त्यों अनुवाद कर देने पर निर्भर नहीं होती। अनुवाद प्रामाणिक तभी होता है जब मूल भावों के साथ साथ मूलपुस्तक का वातावरण और उसकी सजीवता भी अनुवाद की भाषा के धरातल के अनुरूप उतर आती है। अनुवाद को शाब्दिक न होकर प्रासंगिक होना चाहिए। इस अर्थ में अनुवाद भी एक कला है।

यदि नीतिशास्त्र सिद्धान्तों का अध्ययन न होकर मनुष्य और उसके आचरण की विभिन्नता का अध्ययन है तो नीतिशास्त्र पर प्रस्तुत पुस्तक से अच्छी और कोई पुस्तक नहीं है।

अनुवाद के अनेक स्थलों पर व्याख्या सम्बन्धी कठिनाइयों को हल करने में मुझे मूल लेखक प्रोफेसर फ़िलिप व्हीलराइट का सत्परामर्श सदा मिलता रहा है जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

इलाहाबाद
जुलाई, १९५३

—मधुकर

विषयकी

नीतिशास्त्र का अर्थ

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य प्राणियों की भाँति वह भी अपना अधिकांश समय अपने वातावरण की आवश्यकताओं को ही पूरा करने में लगाता है। किंतु जब उसे जगत का और जगत में अपने होने का बोध होता है तो वह मनुष्य होने के नाते जगत का मूल्यांकन करता है और उसके अनुसार ही किसी चीज़ या काम का वरण (choice) करता है। उसकी अपने आप को जान सकने और आत्मज्ञान के आधार पर मूल्यांकन और सोच समझकर वरण कर सकने की क्षमता ही उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है।

नीतिशास्त्र की परिभाषा यों की जा सकती है: नीतिशास्त्र सोच समझकर किए गए वरण, उसका निर्देशन करने वाले उचित अनुचित के मापदंडों और उस वरण से प्राप्त होने वाले लाभों का व्यवस्थित अध्ययन है। वरण के लिए आचरण (behaviour) करना पड़ता है, इसलिए नीतिशास्त्र का आचरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किंतु हर आचरण में विवेकपूर्ण वरण नहीं होता। यहाँ नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में भेद है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में ही मानवी आचरण के विषय में बहुत कुछ कहा जाता है, किंतु उनका भेद मानवीय आचरण के बारे में अलग-अलग प्रश्न उठाने और इसलिए विभिन्न खोजपद्धति अपनाने में होता है। अनुभवाश्रित विज्ञान (empirical science) होने से मनोविज्ञान में मनोभौतिक (psycho-physical) आचरण के तथ्यों, उसके कारणात्मक नियमों और उसके पूर्वकथनीय प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। नीतिशास्त्र में भी मनुष्य के मनोभौतिक आचरण पर विचार किया जाता है किंतु यह विचार आचरण को कैसा 'होना चाहिए'

इसका निर्देश करने वाले मापदंडों के प्रसंग में ही किया जाता है। इस प्रकार नैतिक दृष्टिक्षेत्र में आचरण को 'आचार' (conduct) कहा जाता है। जिस आचरण पर नैतिक विचार नहीं हो सकता उसका अध्ययन नीतिशास्त्र में नहीं किया जाता।

१ नैतिक विवेक का स्वभाव

(The Nature of Moral Deliberation)

अन्य लोगों के सामने आने वाली नैतिक स्थितियों की कल्पना कर और उन्हें अपना बनाकर या समय-समय पर स्वयं अनुभव की गई नैतिक स्थितियों पर सोच विचार करना ही अविकल नैतिक विचार-प्रणाली है। उदाहरणार्थ :

> एक नवोदित वकील एक राजनैतिक नेता का हत्या संबंधी मुकदमा लड़ रहा है। लोगों का शक नेता से वैमनस्य रखने वाले एक व्यक्ति पर है। उस व्यक्ति को फाँसी दिलवा देने से नवोदित वकील का भविष्य उज्वल बन सकता है। किंतु मुकदमें के बीच कुछ ऐसे नए प्रमाण मिलते हैं जिनसे अभियुक्त निर्दोष ठहरता है। अब नवोदित वकील को क्या करना चाहिए ? यदि वह अभियुक्त को निर्दोष सिद्ध कर फाँसी से बचा लेता है तो वह जनता का क्रोध भागी बनता है और उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है जिसका असर उसके परिवार और बालबच्चों की शिक्षा पर पड़ सकता है। दूसरे एक निरपराध व्यक्ति को फाँसी लगवा देना अन्याय है। यहाँ न्याय और स्वार्थ का संघर्ष है। ऐसी स्थिति में जबकि एक व्यक्ति के जीवन मरण का प्रश्न है नवोदित वकील का कर्तव्य क्या है ? उसे क्या करना चाहिए ?
>
> एक व्यक्ति का मित्र अस्पताल में एक असाध्य रोग में पड़ा घुल-घुल कर मर रहा है। रोगी के अच्छे हो सकने की कोई संभावना नहीं है। उसके इलाज का व्यर्थ ख़र्च उसके परिवार का

बोझ बनता जा रहा है। रोगी कुछ खाकर जल्द मर जाना चाहता है जिससे उसे कष्ट से छुटकारा मिले और उसके परिवार का बोझ भी दूर हो जाय। वह अपने मित्र से ज़हर ला देने को कहता है। अब उसका मित्र क्या करे ? नैतिक दृष्टि से क्या उसे एक व्यक्ति की मृत्यु में सहायक बनने का अधिकार है ? दूसरी ओर क्या उसे अपने मित्र और उसके परिवार का दुख और बोझ दूर नहीं करना चाहिए ? विभिन्न दृष्टि से दोनों ही बातें गलत हैं; किंतु उनमें से एक को तो करना ही है। तो उसे क्या करना चाहिए ? उसका कर्तव्य क्या है ?

एक कॉलेज के क्लर्कों ने हड़ताल कर दी है क्योंकि उनकी तनख्वाह नहीं बढ़ाई गई है जिससे उनका जीवन निर्वाह दूभर हो गया है। उनकी माँग न्यायोचित है किंतु उनकी हड़ताल से कॉलेज का काम चौपट हो रहा है। कॉलेज के लड़कों को उनकी जगह काम करने को कहा जाता है और इसके लिए उन्हें पारिश्रमिक देने की प्रतिज्ञा भी की जाती है। कॉलेज के लड़कों को क्या करना चाहिए ? यदि वे हड़ताल तोड़ने में मदद देते हैं तो क्लर्कों को झक मार कर काम पर वापस आना पड़ता है और उनकी माँग पूरी नहीं हो पाती। क्या लड़कों को इस तरह दूसरों के हित में विघ्न डालने का अधिकार है ? यदि वे बाधक न बनें तो क्लर्कों की माँग पूरी हो सकती है। ऐसी स्थिति में लड़कों का कर्तव्य क्या है ? उनको कौन उचित मार्ग अपनाना चाहिए ?

इन तीनों स्थितियों में अलग-अलग नैतिक समस्याएँ सामने आतीं हैं। उन सबमें निहित नैतिक विवेक को कार्य में परिणत करने पर कुछ विशेष आवश्यकताओं पर प्रकाश पड़ता है।

(१) वैकल्पिक पक्षों (alternatives) की परीक्षा और स्पष्टीकरण— जो स्थिति सामने है उसमें प्रसंगानुकूल काम कर सकने की संभावनाएँ क्या हैं ? हरेक स्थिति को क्या अच्छी तरह समझ लिया गया है ? क्या

उनके आपसी भेद को भलीभाँति देख लिया गया है? उन स्थितियों में क्या और कुछ निहित नहीं है या ध्यानपूर्वक देखने पर उनमें और बातें भी निकल सकती हैं? उदाहरण के लिए नवोदित वकील के सामने एक तीसरा रास्ता भी हो सकता था: वह अभियुक्त को छुड़ाने के बदले में उससे गुप्त रूप से रिश्वत लेने की व्यवस्था कर सकता था। ऐसा करना एक नामी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को निस्सन्देह शोभा नहीं देता किंतु इससे एक तार्किक संभावना का पता तो चल ही जाता है।

(२) परिणामों का युक्तिसंगत विवेचन—दूसरी बात हर वैकल्पिक पक्ष के संभव परिणामों पर विचार करना है। चूँकि यहाँ कल्पित भविष्य के विषय में पूर्वकथन हो सकता है इसलिए निष्कर्ष में अधिकाधिक उपपद्यता (probability) ही हो सकती है, निश्चितता नहीं। वरण पूर्व अनुभव पर जितना ही अधिक निर्भर होगा उसमें उतनी ही उपपद्यता होगी। वर्तमान स्थिति चाहे कितनी ही नई क्यों न लगे फिर भी विश्लेषण करने पर उसमें कुछ ऐसी बातें अवश्य मिलेंगी जिनका साधर्म्य पूर्व अनुभव में मिल जायगा या जिन पर कार्य-कारण नियम लागू हो सकेगा। ऐसी विशेष बातों का विन्यास या तो साधर्म्य (analogy) से (इस समय जो कुछ किया जा रहा है उसी के समान काम का पहले क्या परिणाम हुआ था) या अलग-अलग बातों को देखकर (आगमन) उनके आधार पर बनाए गए सामान्य नियमों (निगमन) की आगमन-निगमन प्रणाली (inductive-deductive method) से किया जायगा। नवोदित वकील जो कुछ भी करेगा उसे अपने कानूनी पेशे, जनता के रुख़ और अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही करेगा।

(३) कल्पना द्वारा स्थिति में अपने आप को रखना—वरण करने के संभव परिणामों पर ही सोच विचार कर लेना काफी नहीं है। नैतिक विवेक विज्ञानीय न होकर मानवी और व्यावहारिक होता है। दो बातों की वांछनीयता का सही निर्णय कल्पना में उन दोनों का अनुभव करने से ही हो सकता है। अतएव तीसरी आवश्यकता अपने को कल्पना द्वारा भविष्य

में रख सकना है जिससे वर्तमान काल्पनिक अनुभव सच्चे लगने लगें। दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत कम लोग कर सकते हैं। वर्तमान भविष्य से अधिक आकर्षक और आवश्यक होता है। अपने को भविष्य में रख सकने के लिए कल्पना शक्ति का अभ्यास चाहिए और शिक्षित नैतिक विचारक को इसमें निपुण होना चाहिए।

(४) किसी काम का प्रभाव जिन लोगों पर पड़ेगा उनके दृष्टिकोण से अपने सादृश्य की कल्पना करना—इस समय जो निर्णय किया जा रहा है यदि उसका कोई महत्व है तो उसका प्रभाव विभिन्न लोगों पर विभिन्न तरह से पड़ेगा। नैतिक खोज में यह समझने की बड़ी महत्ता है कि वे लोग उस काम को किस दृष्टि से देखेंगे। अतएव हमें अपने और दूसरों के बीच एक नाटकीय तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए। यह इसलिए संभव है कि उपन्यास पढ़ने या तमाशा देखने में कल्पना उपन्यास या तमाशे के पात्रों से हमारा तादात्म्य करा देती है। वे पात्र हमें मुग्ध करते हैं और हम थोड़ी देर को उन्हीं की दुनियाँ के हो जाते हैं। हम उन्हीं की भावनाओं में रस लेने और उनकी हर बात से सहानुभूति रखने लगते हैं।

सामाजिक चेतना अनेक व्यक्तियों में, अत्यधिक उदार व्यक्तियों में भी, आवेश के साथ काम करती है। दूसरों की आवश्यकताओं और अधिकारों को देख सकना उतना ही कठिन है जितना अपने भविष्य के लिए उनकी तरह काम कर सकना। नैतिक विचारक को अपने सामाजिक दृष्टिक्षेत्र का विकास करना चाहिए क्योंकि वह तभी दूसरों की आवश्यकताओं और अधिकारों को, जो न्याय का आधार है, संतुलित रूप से देख सकता है।

(तीसरी आवश्यकता की भाँति यहाँ भी दूसरी आवश्यकता के अनुसार) जिन परिणामों का पूर्वाभास मिल चुका हो उनके हर विकल्प पक्ष में काल्पनिक प्रक्षेपण करना चाहिए।

(५) निहित मूल्यों का अंकन और उनकी तुलना—(तीसरी और

चौथी आवश्यकता में यह माना गया है कि) हरेक नैतिक स्थिति में भावात्मक और अभावात्मक मूल्य या महत्ता रहती है। न्यायसंगत तुलना कर सकने के लिए उन मूल्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है क्योंकि उनकी तुलना के आधार पर ही वरण किया जा सकता है। मूल्यों को स्पष्ट करने का अर्थ है सापेक्ष रूप से उनका सिद्धान्तीकरण करना; किंतु काल्पनिक उदाहरणों में वे फिर भी यथातथ रहते हैं। उदाहरण के लिए नवोदित वकील के सामने वरण करने के दो रास्ते हो सकते हैं : एक तो सांसारिक सफलता और दूसरे अपने पेशे का आदर। इन दोनों बातों का मूल्य है किंतु फिर भी मूल्यों को एक सामान्य संज्ञा नहीं दी जा सकती। नवोदित वकील और रोगी के मित्र दोनों के सामने पारिवारिक सुख है, किंतु इन दोनों सुखों में अन्तर है इसलिए उनका एक ही अर्थ नहीं हो सकता। पारिवारिक सुख अनेक अर्थ रख सकता है और उन विभिन्न अर्थों में एकसूत्रता भी हो सकती है किंतु हर पारिवारिक सुख हर सम्मानित पेशे से तुलनीय नहीं है। नैतिक समस्या में उदाहरणों के हर पहलू की तुलना करने की आवश्यकता होती है। तुलना करना साधारण गणना नहीं है। तुलना में काल्पनिक विवेक किया जाता है। तुलना के तार्किक आधार सैद्धान्तिक मूल्य ही यथातथ बातों के आदि-बिन्दु होते हैं।

(६) निर्णय—निर्णय स्थितियों के विकल्प पक्षों की तुलना और उनमें निहित मूल्यों के आधार पर किया जाता है। संभव स्थितियों में से किसे अपनाया जाय ? इस निर्णय पर पहुँचने का कोई नियम नहीं है। निर्णय पूरी तरह तुलना कर लेने के बाद न्यायसंगत ढंग से करना चाहिए। हरेक नैतिक निर्णय में जोखिम रहता है क्योंकि मनुष्य का भविष्य उसके निर्णय करने के तरीके से ही निर्धारित होता है।

(७) क्रिया—निर्णय को कार्य रूप देने के संभव साधनों पर (दूसरी आवश्यकता के प्रसंग में) विचार किया जा चुका है। इच्छित वस्तु या स्थिति को साध्य (end) कहा जाता है, साध्य तक पहुँचने के कुछ विशेष साधन हमारे हाथ में यहाँ और अभी होते हैं। ये शर्तें ही

नैतिकता का आधार हैं। मान लीजिए कि उपलब्ध विकल्प पक्षों में स सर्वोत्तम साध्य है। इस साध्य तक क, ख, ग साधनों से पहुँचा जा सकता है। अतएव साध्य तक पहुँचने के लिए क, ख, ग साधनों में से जो भी साधन अपनाया जायगा वह उस समय हमारा कर्तव्य बन जायगा। विवेक यदि दृढ़ता और बुद्धिमानी से किया गया हो तो वह 'मुझे क्या करना चाहिए ?' इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर दे देता है, चाहे वह उत्तर कुछ हालतों में 'कुछ न करो' ही क्यों न हो।

ये सातों आवश्यकताएँ नैतिक विवेक और वरण के सभी अनुभवों में स्पष्ट रूप से नहीं मिल सकतीं। वे यहाँ दिए गए क्रमानुसार भी नहीं हो सकतीं। कभी कभी दो साध्यों की सापेक्षिक योग्यता पर विवेक किया जा सकता है और साधनों को विवेक करने के साथ साथ या उसके बाद खोजा जा सकता है। अभी-अभी किया गया विश्लेषण नैतिक समस्याओं के स्वभाव पर कुछ प्रकाश डालता है और उसकी परीक्षा उसे इस अध्याय के शुरू में दी गई तीन नैतिक स्थितियों पर लागू करके की जा सकती है।

२ नैतिक स्थिति का तार्किक विश्लेषण

हर नैतिक प्रश्न में एक आदेश (ऐसा करना चाहिए) का आग्रह (ought)[1] रहता है। किंतु हर तरह का आग्रह नैतिक आग्रह नहीं होता। तार्किक आग्रह और विवेकपूर्ण आग्रह में भेद है। 'मकान की दशा का आग्रह है कि उसकी क़ीमत इतनी होनी चाहिए,' 'मौसम का आग्रह है कि रात को वर्षा होगी', ये तार्किक आग्रह के उदाहरण हैं।

---

१ हिन्दी में Ought का पर्याय 'चाहिए' है किंतु 'चाहिए' क्रिया का प्रयोग भाषा के अनुकूल नहीं पड़ता और भद्दा लगता है, इसलिए मैंने Ought की जगह 'आग्रह' शब्द रक्खा है। इस शब्द को खपाने के लिए मूल वाक्यों में कहीं कहीं थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा है।

"दुर्बल शरीर स्वस्थ बनने के लिए व्यायाम का आग्रह रखता है'; यह विवेकपूर्ण आग्रह का उदाहरण है। नैतिक आग्रह की भाँति उपर्युक्त उदाहरणों में 'आग्रह' शब्द का दो प्रकार का प्रयोग भी किसी साध्य या मापदण्ड के प्रति योग्यता के होने को व्यक्त करता है । तार्किक आग्रह मानवी आचरण पर लागू नहीं होता; विवेकपूर्ण आग्रह लागू होता है और उसके द्वारा व्यक्त होने वाली अनिवार्यता किसी इच्छा की अपेक्षा रखती है। किंतु नैतिक आग्रह किसी शर्त की अपेक्षा नहीं रखता : हमें अपने सम्मान का ख्याल रखना चाहिए—इसका अर्थ यह नहीं है कि हम यदि न चाहें तो सम्मान का ख्याल न रक्खें। सम्मानित बनने के लिए दूसरों का आदर पाना अच्छी बात है, किंतु हमें अपने सम्मान का ख्याल हर हालत में होना चाहिए। कांट नैतिक आग्रह को निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) कहता है। निरपेक्ष होने से नैतिक और विवेकपूर्ण आग्रह में भेद है, आदेश होने से वह तार्किक आग्रह से भी अलग है। नीतिशास्त्र में नैतिक आग्रह का ही अध्ययन किया जाता है और इस पुस्तक में आग्रह शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में में ही किया जायगा। अब हमें नैतिक आग्रह की मुख्य बातों पर ग़ौर करना चाहिए।

मूल्य और संभावना (Value and Possibility)

हर नैतिक स्थिति की पहली बात उसमें किसी मूल्य (Value) की उपस्थिति होती है। जिस वस्तु की इच्छा की जाती है उसमें मूल्य की उपस्थिति का अनुभव भी किया जाता है। मूल्य निर्धारित करने के लिए सोच विचार करना जरूरी नहीं है। जिस प्रकार निर्णय अनुभव की सही व्याख्या कर सकने में सहायक होता है उसी प्रकार उसकी सहायता से मूल्य के तत्कालिक अनुभव को भी ठीक तरह से देखा जा सकता है। किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की इच्छा करने पर निर्भर नहीं होता; इच्छा तो मूल्य की उपस्थिति का मनोभौतिक आधार है।

किसी वस्तु में मूल्य मानने का अर्थ उस वस्तु को किसी न किसी दृष्टि से श्रेयस्कर समझना है। अतएव नैतिक स्थिति की उपर्युक्त बात को दोहराते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ वस्तुओं को श्रेयस्कर मानना चाहिए या, श्रेय शब्द के सापेक्षिक होने से, कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अच्छा मानना चाहिए। किंतु क को ख से अच्छा मानना ख को क से बुरा मानना है। इसका अर्थ यह है कि कुछ वस्तुएँ अन्य वस्तुओं से बुरी होती हैं। अतएव तुलनात्मक दृष्टि से श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर में भेद कर सकने की योग्यता ही नैतिकता की पहली आवश्यक शर्त है। क्या श्रेयस्कर है और क्या नहीं है? यह दूसरा ही सवाल है। यहाँ तो केवल इसी बात पर जोर दिया गया है कि जो व्यक्ति कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अधिक महत्ता नहीं देता उसके लिए नैतिक समस्या हो ही नहीं सकती। (ऐसे मनुष्य के सामने नैतिक समस्याएँ हो भी सकती हैं इसे समझना ज़रा कठिन है)। अतएव नैतिक समस्या के हो सकने की पहली शर्त किसी न किसी मूल्य की उपस्थिति को मानना है।

नैतिक समस्या की यह प्राथमिक विशेषता नीतिशास्त्र को आदर्शात्मक (normative) विज्ञान बना देती है। नीतिशास्त्र अनुभववादी विज्ञानों के अर्थ में विज्ञान नहीं है और उसकी चिंतन प्रणाली भी सर्वथा अलग है। नीतिशास्त्र को विज्ञान शब्द के विस्तृत अर्थ में ही विज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि उसकी विषय सामग्री को व्यवस्थित किया जा सकता है और कुछ सिद्धान्तों की खोज भी की जा सकती है। भौतिक-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि में तथ्य-संकलन पर ही जोर दिया जाता है, किंतु नीतिशास्त्र में तथ्यों को गौण समझा जाता है और उन्हें वहीं तक लिया जाता है जहाँ तक उन पर नैतिक मूल्य लागू होते हैं और उनका मूल्यांकन हो सकता है। भारत गर्म देश है, यह एक तथ्य है; वहाँ के लोग ग़रीब हैं, यह भी तथ्य है। दोनों ही बातें तथ्य हैं किंतु हम उनके मूल्यांकन में भेद करते हैं। मूल्यांकन के यही भेद, यही आदर्शात्मक भेद, ही नैतिक स्थिति की नींव हैं।

नैतिक स्थिति की दूसरी बात संभव वैकल्पिक पक्षों (Alternatives) की उपस्थिति है। किसी वस्तु को अच्छा कहकर उसका मूल्यांकन करना उसकी सत्ता मान लेने के बराबर है। नीतिशास्त्र में श्रेयस्कर या 'ऐसा होना चाहिए' को 'क्या करना चाहिए' प्रश्न का एक पहलू ही माना जाता है। अमुक व्यक्ति को ऐसा करना चाहिए, इस कथन में उस व्यक्ति के अन्दर उस काम को करने या न करने की शक्ति को मान लिया जाता है। हम यह नहीं कहते कि भारत के राष्ट्रपति को मानव जाति के तमाम दुख तत्काल मिटा देने चाहिएँ क्योंकि राष्ट्रपति में ऐसा कर सकने की शक्ति नहीं है, चाहे वह ऐसा कर सकने के लिए कितना ही लालायित क्यों न हो। हम यही कह सकते हैं कि राष्ट्रपति को अपनी शक्ति भर ऐसा करने का प्रयत्न करना चाहिए। हम यह भी नहीं कहते कि अमुक व्यक्ति को गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का पालन करना चाहिए क्योंकि वह तो उसे जाने अनजाने करना ही पड़ता है। 'चाहिए' या 'न कर सकना' का नैतिक आग्रह से किसी अर्थ में कोई सम्पर्क नहीं हो सकता।

नैतिक स्थिति में मूल्य और संभव वैकल्पिक पक्षों की उपस्थित दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि वैकल्पिक पक्ष नैतिक अर्थ तभी रख सकते हैं जब उनमें किसी न किसी प्रकार के मूल्य को मान लिया जाय। कहीं-कहीं वैकल्पिक पक्ष को बहुत सोच समझ कर मूल्य दिया जाता है।'मोह से लड़ना' आदि मानसिक स्थितियों में हमारी बुद्धि केवल एक ही वैकल्पिक पक्ष को मूल्य देती है किंतु दूसरे की ओर झुकाव के अनुभव से हमें उसमें भी मूल्य की प्रतीति होती है। किंतु दोनों स्थितियाँ नैतिक समस्या तभी बन सकती हैं जब उनके दोनों वैकल्पिक पक्षों में मूल्य माना जाय, चाहे उस मूल्य का निर्णय विवेक द्वारा किया जाय या उसकी सहज अनुभूति हो।

उदाहरण के लिए मेरे सामने फूल तोड़ने या न तोड़ने के दो वैकल्पिक पक्ष हैं, किंतु चूँकि इन दोनों का कोई मूल्य नहीं है, या नहीं हो सकता है, इसलिए यह स्थिति नैतिक स्थिति नहीं है। मैं चाहूँ तो

भोजन न करूँ—इस उदाहरण में एक वैकल्पिक पक्ष (भोजन करने) का तो मूल्य है, किंतु दूसरे (भोजन न करने) का नहीं है; अतएव यहाँ भी नैतिक समस्या नहीं है। यदि मैं पेट को ठीक रखने के लिए या किसी और आवश्यक काम से भोजन न करूँ तो यह स्थिति नैतिक स्थिति बन जायगी, क्योंकि तब दोनों वैकल्पिक पक्षों में मूल्य मान लिया जायगा। नैतिक समस्याओं की मुश्किलों और नैतिक विवेक की अनिश्चितता का सबसे बड़ा कारण यह है कि दोनों वैकल्पिक पक्षों में मूल्य इस ढंग से मान लिया जाता है जिससे उन मूल्यों का कोई मापदण्ड नहीं हो सकता।

नैतिक अन्तर्दृष्टि (Moral Insight)

नैतिक स्थिति को परिणामिक होना चाहिए। उदाहरण के लिए मैं किसी होटल में खाना चाहता हूँ और मुझे कचौड़ी और मालपुआ में पसन्द करनी है। यदि मैं दोनों को पसन्द करता हूँ तो नैतिक स्थिति की अब तक बताई गई आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। यहाँ दो विभिन्न संभावनाएँ हैं और उन दोनों का मूल्य है। फिर भी यह स्थिति नैतिक स्थिति नहीं है। मेरे सामने की दोनों संभावनाएँ अपने आप में साध्य हैं, मेरी पसन्द का मूल्य तत्कालिक उपभोग में समाप्त हो जाता है और मेरी पसन्द की वर्तमान उपभोग से आगे और कोई महत्त्ता नहीं रहती। यह स्थिति मेरे और अनुभव से बिल्कुल अलग है। किंतु मान लीजिए मुझे रसगुल्लों और रबड़ी में भी पसन्द करनी है। रबड़ी मुझे बड़ी अच्छी लगती है किंतु उससे मुझे कब्ज़ भी हो जाता है। अब यह बात एक मामूली नैतिक स्थिति बन जाती है। अब रबड़ी या रसगुल्लों के स्वाद का वैकल्पिक पक्ष नहीं रह जाता। यहाँ दो बातों में वरण करना है। एक ओर तो रबड़ी का रसास्वादन और उसके बाद होने वाले कब्ज़ के कष्ट का अनुभव और दूसरी ओर रसगुल्ला खाकर उसके बाद जीभ चाटने का मज़ा। यहाँ आंगिक (organic) मूल्यों में वरण करना है। प्रत्येक मूल्य में अनेक बातें होती हैं और यदि उन बातों को अलग अलग करके उन

पर विचार किया जाय तो उनमें भावात्मक या अभावात्मक किसी न किसी प्रकार के मूल्य का आरोप हो सकता है। ये सब बातें चेतनता में अलग-अलग न आकर ही स्थिति को नैतिक स्थिति बना देती हैं। वस्तुओं के प्रत्यक्ष परिचय के अलावा भी एक और बात की आवश्यकता होती है। दूरस्थ मूल्यों में अन्तर्दृष्टि रखना भी ज़रूरी है। अतएव नैतिक स्थिति की तीसरी आवश्यकता में दो बातें हैं : वरण को परिणामिक होना चाहिए और वैकल्पिक पक्षों को यहाँ और अभी समाप्त हो जाने वाला साध्य नहीं होना चाहिए, उनका मूल्य वर्तमान उपभोग से भी आगे होना चाहिए। अतएव वरण करने वाले में परिणामों को कल्पना द्वारा समझ सकने की क्षमता और वर्तमान स्थिति द्वारा संकेत किए जाने वाले मूल्यों के स्वभाव को जान सकने की अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए।

नैतिक स्थिति में निहित मूल्यों की अन्र्दृष्टि की विशेषता क्या है? कुछ उपयोगितावादी (Utilitarian) दार्शनिक, विशेषकर जेरमी बेन्थम, 'मूल्य' शब्द से धोखा खा गए हैं। वे यह समझते हैं कि जिस तरह चीज़ों का मूल्य रुपए-पैसे से आँका जाता है उसी तरह नैतिक स्थिति के मूल्यों का भी अनुगणन किया जा सकता है। किंतु आर्थिक मूल्य प्राविधिक (Technical) और सैद्धान्तिक होते हैं, नैतिक मूल्य व्यक्तिगत और यथातथ (Concrete) होते हैं। कोई सौदागर दो चीज़ों को एक ही कीमत पर बेचकर उन चीज़ों के विनिमय-मूल्य को समान समझता है। खरीदारों के लिए उन चीज़ों का मूल्य विनिमय में न होकर उनकी उपयोगिता में होता है। उन वस्तुओं के मूल्य में भेद भी होता है क्योंकि ख़रीदार हर वस्तु को अपनी पसन्द और प्रयोग के अनुसार ही ख़रीदता है। नैतिक स्थिति के प्रतियोगी मूल्यों में प्रकार भेद होता है, मात्रा-भेद नहीं। मनुष्य की पसन्द और मूल्यांकन का ढंग इतना विभिन्न है और इस तरह बदलता रहता है कि अन्तर्दृष्टि में भी कोई स्थिरता नहीं मानी जा सकती। मनुष्य के विकास को उसकी नैतिक अन्तर्दृष्टि की परिपक्वता से ही अच्छी तरह समझा जा सकता है।

किंतु क्या अन्तर्दृष्टि पर्याप्त है? यदि हम किसी काम को संभव और सबसे अच्छा समझ कर करना चाहें तो क्या हम उसे कर भी सकते हैं? हमें मालूम है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। मोह का अनुभव सभी को होता है—अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष में हम काम करने का उचित मार्ग जानते हैं किंतु कोई न कोई क्षणिक प्रलोभन हमें उस मार्ग को अपनाने में बाधा डालता है। हमें ज़रा इस अनुभव पर भी विचार करना चाहिए।

३—हित और औचित्य (Good and Right)

हम जो करना चाहते हैं और हमें जो करना चाहिए उसमें अक्सर विरोध होता है: वर्तमान हित और औचित्य में असंगति सी मालूम पड़ती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है नैतिक विवेक सम्बन्धी दोनों वैकल्पिक पक्षों में से किसी न किसी को हितकर माना जाता है। किंतु प्रतियोगी हितों के गुण सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। मान लीजिए कि मेरा अपने मित्रों के साथ बैठकर चाय पीने को जी चाहता है जबकि मैं जानता हूँ कि शाम का समय मुझे पढ़ने में लगाना चाहिए। एक जी तो बैठ जाने को करता है और दूसरा चले जाने को। पहली इच्छा आकर्षक और बलवती हैं किंतु उसके पीछे बौद्धिक अनुज्ञप्ति नहीं है; जबकि—

> नैतिक आग्रह की माँग दूसरी ही है। उसमें अन्तर्प्रेरणा न होकर अनिवार्यता होती है। हम अपने को उकसाए जाने का अनुभव नहीं करते, किंतु हम स्वयं अपनी अन्तर्प्रेरणा के विरुद्ध अपने को ही उकसाते हैं।[1]

ऐसी स्थिति से सभी परिचित हैं। उस समय तबियत वह काम करना चाहती है जो कर्तव्य के प्रतिकूल पड़ता है। उस तत्कालिक आकर्षण को तोड़ने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता, उसे कर सकने का मार्ग देखना और उसे अधिक लाभ की आशा से अच्छा समझना यही सब नैतिक आग्रह की अनुभूति की शर्तें हैं।

---

१ होरेस जी० ब्यार, दि आर्ट आव् फीलिंग, पृ० १६९-७०

यद्यपि हित और औचित्य प्रायः विरोधी होते हैं किंतु उनमें अंतरंग सम्बन्ध होता है। उनके विरोध की व्याख्या 'हित' शब्द के अर्थ में विभेद—आन्तरिक (Intrinsic) और ऊपरी (Extrinsic) हित—से की जाती है। जब कोई हित अपने आप में साध्य होता है तो उसे आन्तरिक हित कहा जाता है; जब उसे किसी और हित को पाने का साधन बनाया जाता है तो उसे ऊपरी या नैमित्तिक (Instrumental) हित कहा जाता है। यह सम्बन्ध बदलता रहता है क्योंकि साध्य और साधन में भेद कर सकना सदा संभव नहीं है। जो एक दृष्टि से साध्य है वही दूसरी दृष्टि से साधन हो सकता है। फिर भी हम सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि शल्य चिकित्सा से ऊपरी लाभ होता है क्योंकि उससे भविष्य में रोगी के अधिक स्वस्थ होने की आशा की जाती है। शराब पीना आन्तरिक हित है क्योंकि शराब पीने के लुत्फ के लिए ही पी जाती है, किसी और प्रयोजन से नहीं। कुछ हित एक साथ ऊपरी और आन्तरिक दोनों ही होते हैं, जैसे स्वादिष्ट और स्वास्थ्यप्रद भोजन, प्रफुल्लित करने और गहरी नींद लाने वाला स्नान। किसी आन्तरिक हित (जैसे अच्छी नौकरी) की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग अपना सकने का एकमात्र साधन यही है कि किसी ऊपरी हित (जैसे मेहनत से पढ़ना) का वरण कर लिया जाय। ऐसे अवसरों पर काम से प्राप्त होने वाला हित ही औचित्य का आधार होता है, किंतु यह हो सकता है कि कर्त्ता को दूरस्थ हित दिखाई न दे। तत्कालिक हित (जैसे कि विलासमय जीवन का सुख) के प्रति आसक्त होने से कभी-कभी यथार्थ में दो हितों (वर्तमान विलासिता और भविष्य) का विरोध वर्तमान हित (विलासिता) और वर्तमान उचित मार्ग (मेहनत से पढ़ना) का विरोध लगने लगता है।

इच्छाशक्ति का विरोधाभास (Paradox of Volition)

जिन स्थितियों में वास्तविक नैतिक संघर्ष होता है और प्रलोभन को दबाने के लिए नैतिक प्रयत्न करना पड़ता है वे नैतिकता के लिए अत्यन्त

आवश्यक हैं। किसी नैतिक सिद्धान्त के न्यायसंगत हो सकने की संभावना इसी बात में है कि वह नैतिक संघर्ष में एक सक्रिय शक्ति बन सके। विलियम जेम्स ने नैतिक संघर्ष को उस स्थिति में माना है जिसमें "एक आदर्श अन्तर्प्रेरणा से आवेश और आदत से उत्पन्न अन्तर्प्रेरणाओं का दमन किया जा सके" और "विस्फोटक या बलवती प्रवृत्तियों को रोका जा सके और बाधा डालने वाली बातों को हटाया जा सके।" वह कहता है :

> इच्छा शक्ति की दुविधा में, जब कि आदर्शों की प्रबलता रहती है, हमें लगता है मानो हम अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर बढ़ रहे हों। यद्यपि साधारण उद्देश्य आसान मालूम होता है तथापि हम उसे नहीं अपनाते। जो व्यक्ति शल्यचिकित्सा में अपने दर्द को दबा लेता है या कर्तव्य के लिए समाज की गालियाँ सुन लेता है उसे लगता है मानो वह उस समय अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चल रहा हो......
>
> आदर्श अन्तर्प्रेरणा निर्बल सी जान पड़ती है किंतु उसे कृत्रिम रूप से प्रबल बनाना चाहिए। उसको प्रयत्न द्वारा प्रबल बनाया जाता है जिससे आदर्शात्मक शक्ति विभिन्न मात्रा की जान पड़ती है जब कि अन्तर्प्रेरणा की मात्रा स्थाई लगती है। किंतु जब प्रयत्न की सहायता से आदर्श उद्देश्य ऐन्द्रिक प्रतिरोध पर विजयी होता है तो उसकी मात्रा किस बात से निर्धारित होती है? प्रतिरोध की महानता से ही। यदि ऐन्द्रिक प्रेरणा कम होगी तो प्रयत्न भी कम करना पड़ेगा। प्रतिरोध की महानता के सामने प्रयत्न भी महान् बन जाता है। अतएव आदर्शात्मक या नैतिक कार्य की समीचीन परिभाषायों की जा सकती है : अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चलना ही नैतिक कार्य है।[1]

---

१ विलियम जेम्स' दि प्रिंसिपिल्स आव् साइकोलॉजी, जिल्द दूसरी, पृ० ५४८-४९

जेम्स के इस गम्भीर विरोधाभास को समझने के लिए हमें भौतिक जगत के साधर्म्य से नैतिक स्थिति की व्याख्या करने की प्रचलित प्रवृत्ति से बचना चाहिए। भौतिक विज्ञानों के अध्ययन में न्यूनतम प्रतिरोध के मार्ग को अपनाया जाता है। विज्ञान के नियम यथातथ अनुभव पर पूर्ण रूप से घटित न हो सकने के कारण ही सार्वभौम होते हैं। कोई भी नियम यथातथ अनुभव पर ज्यों का त्यों लागू नहीं होता। वैज्ञानिक अपनी प्रविधिक आवश्यकताओं के अनुसार नियम बनाने में स्वतंत्र हैं। किंतु विज्ञानीय नियम हमें नैतिक अनुभव के बारे में कुछ नहीं बताते। नैतिक अनुभव के क्षेत्र में हर व्यक्ति अपना अन्वेषक स्वयं है। अन्तर्ज्ञान से यह पता चलता है कि नैतिक संघर्ष में हम अधिकतम प्रतिरोध के मार्ग पर चल सकते हैं और चलते हैं।

उद्देश्य पर विचार करने से 'हमें क्या करना चाहिए ?' प्रश्न को 'हम क्या करना चाहते हैं ?' में बदला जा सकता है। इस विषय में बुद्धि या अन्तर्दृष्टि ही मध्यस्थ का काम करती है। हमारे लिए चाय पीने का लुत्फ छोड़ना इसलिए उचित है कि भविष्य में उससे हमारा हित हो सकता है : हमारा समय और पैसा दोनों बच सकते हैं। वरणीय काम तत्कालिक तृप्ति से अलग होता है किंतु उसमें भी एक तृप्ति होती है। हम कल्पना द्वारा अपने आप को भविष्य में रख कर अपने लाभ, हित या परितृप्ति को वर्तमान अनुभव से अलग करके देखते हैं। मनुष्य अपनी इसी योग्यता के कारण बौद्धिक प्राणी है। उसकी योग्यता जहाँ तक उसके आचार का निर्देशन करती है वहाँ तक वह नैतिक प्राणी भी है।

मनुष्य की अनुचयन करने की योग्यता परोपकारिक आग्रह (Altruistic 'ought') में भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य कर्तव्यों को अपने भविष्य के लिए ही न कर दूसरों के लिए भी कर सकता है।

यहाँ फिर बुद्धि ही मध्यस्थ होती है। मनुष्य लाभ, हित या परितृप्ति को परितृप्त होने वाले व्यक्ति से और अनुभव को अनुभव करने वाले से अलग करके विचार करने की योग्यता रखता है।

यदि परितृप्ति ही अभिलषित वस्तु है तो वह ख, ग, घ के लिए भी वैसी ही है जैसी कि क के लिए। अपने सुख की भाँति दूसरों का सुख भी साध्य है और उसकी खोज भी अपने ही सुख की भाँति करनी चाहिए। आग्रह ही वह विशेष भावना है जो इस बौद्धिक सिद्धि को आचार बना देती है।[1]

इसी अनुचयन से ईसा और कन्फ्यूशस का आदेश 'दूसरों के साथ वही व्यवहार करो जो तुम अपने साथ करवाना चाहते हो' (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत) एक मान्य कर्तव्य बन जाता है।

अतएव उचित और अनुचित निरर्थक शब्द नहीं हैं। गाल बजाने से अलग जिस काम को उचित या अनुचित कहा जाता है उसका हमारे बाद के आचार पर कोई न कोई प्रभाव अवश्य पड़ता है। नीतिशास्त्र बौद्धिक विनोद नहीं है। नैतिक सिद्धान्त नैतिक व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं और नीतिशास्त्र का वास्तविक अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है जब नैतिक सिद्धान्तों को आदर्श साध्यों को पाने के संघर्ष में सक्रिय शक्ति बना लिया जाय।

४—मापदण्ड की खोज

किंतु यह पूछा जा सकता है कि उचित और अनुचित की पहचान कैसे की जाती है? हम यह कैसे मान लें कि नैतिक अर्न्तदृष्टि के विकास से कर्तव्यों के औचित्य का सही निर्णय किया जा सकता है? हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारी नैतिक अन्तर्दृष्टि का पर्याप्त विकास हो चुका है? उत्तम बुद्धि ही तो काफी नहीं होती, उसे बुरे कामों की ओर भी लगाया जा सकता है। मानवी आचार को उचित अथवा अनुचित ठहराने या दो प्रतियोगी मूल्यों में से एक को श्रेयस्कर समझ कर उसका वरण करने की कसौटी क्या है? इसके लिए अनेक कसौटियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

---

१ व्याट, वही पृ० १६८

(१) स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ—लोग कहते हैं कि 'अपनी अन्तर्प्रेरणाओं पर चलो और वही काम करो जिससे अधिक से अधिक सुख मिले', जैसे उन्होंने इन अनर्गल वाक्यों में कोई नैतिक सार्थकता पा ली हो। ऐसे लोग वास्तव में नैतिक सत्यों की सत्ता से इनकार ही करते हैं। यदि आचार का मापदंड प्रवृत्तियाँ ही हों तो अनेक प्रवृत्तियों में से किसी एक का वरण कर सकने का कोई मापदंड नहीं हो सकता। ऐसी दशा में तो प्रबलतम प्रवृत्ति ही प्रबल होने के नाते उचित बन जायगी। अतएव यहाँ किसी नैतिक मापदंड की ओर संकेत न करके उसको केवल अस्वीकार ही किया गया है।

कभी-कभी स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं के पक्ष में मानवी स्वभाव की दुहाई दी जाती है। इसकी विस्तृत परीक्षा चौथे अध्याय में की जायगी; यहाँ पर इतना ही कह देने की जरूरत है कि मानवी स्वभाव की जटिलता और रहस्यमयता के कारण उसका अपचय तथ्यों के किसी रूप या प्रकार विशेष में नहीं किया जा सकता। मनुष्य यदि अन्तर्प्रेरणा में बह जाता है तो वह अक्सर उसको दबा भी देता है और दबा भी सकता है। अपने स्वभाव को सुधारना और फिर से बनाना भी मनुष्य का स्वभाव है। वैकल्पिक पक्षों में आसान मार्ग को छोड़कर कठिन मार्ग पर चल सकना अत्यन्त आवश्यक बात है, नहीं तो नैतिक क्रिया शक्तिहीन और नैतिक निर्णय निरर्थक हो जायगा। किंतु नैतिकता के लिए अन्तर्प्रेरणा, स्वभाव और प्रवृत्ति को पर्याप्त समझने वाले इसी आदर्श तथ्य की उपेक्षा जानबूझ कर कर बैठते हैं।

(२) व्यवस्थापित विधान (Statute law)—किसी देश का विधान उचितानुचित का सब पर लागू होने वाला मापदंड होता है। किंतु मनुष्य सारे कानूनों का पालन नहीं कर सकता। बहुत से लिखित कानून एक अर्से से व्यर्थ हो चुके हैं और उन्हें अब तक हटाया नहीं गया है। मनुष्य सारे कानूनों का पालन तभी कर सकता है जब वह कानूनी मदद से आचार के बारे में कौन-कौन से कानून हैं? इसका पता

लगा ले। ज्ञात कानूनों में भी कुछ का आदर दूसरों से अधिक है। 'कानून मानने वाले' ऐसे लोग भी हैं जो शराबबन्दी पर भी छिपकर पीते हैं। वर्तमान कानूनों में परिवर्तन कर सकने का अधिकार सभी को है। अतएव वास्तविक और प्रस्तावित कानूनों के उचितानुचित होने का निर्णय कर सकने के लिए कोई मापदंड होना चाहिए।

(३) सार्वजनिक सम्मति की प्रामाणिकता व्यवस्थापित विधान से अधिक होती है क्योंकि कोई कानून सार्वजनिक समर्थन पाए बिना चल नहीं सकता। फिर भी सार्वजनिक सम्मति अक्सर ग़लत होती है क्योंकि लोगों के सोचने का तरीका भावना प्रधान या संघचारी होता है। शिक्षा का एक उद्देश्य सार्वजनिक सम्मति को उन्नत बनाना है। अतएव किसी समय पर सार्वजनिक सम्मति को उचितानुचित ठहरा सकने के लिए किसी श्रेष्ठ मापदंड की अपेक्षा है।

(४) कुछ लोग इस श्रेष्ठ मापदंड को धार्मिक सत्ता में मानते हैं। इस दृष्टिकोण में (१) ईश्वर की सत्ता, (२) मनुष्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ईश्वरीय इच्छा का निमित्त समझने और (३) अपने ही धर्म या गुरु द्वारा मनुष्य के सदसद्विवेक की चंचलता पर अंकुश लगाने के लिए ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति होने के विश्वास को स्वीकार किया जाता है। इन सब विश्वासों को मान लेने पर भी उनकी व्याख्या करने की कठिनाई पड़ती है। चोरी न करो : क्या यह निषेध व्यापार सम्बन्धी सब बातों पर भी लागू होता है? चोरी की एक सार्वभौम मान्य परिभाषा न होने से यह ईश्वरीय आदेश उचित और आवश्यक होते हुए भी बड़ा अनिश्चित है। मानवजाति से प्रेम करो : ठीक है; किंतु इस नियम को युद्ध और श्रम सम्बन्धी आवश्यक सामाजिक समस्याओं पर लागू करने के अनेक मत हैं।

(५) सदसद्विवेक (Conscience) हर व्यक्ति का मापदंड होता है। सदसद्विवेक की आवाज क्षणिक प्रवृत्ति और कभी-कभी सार्वजनिक सम्मति का विरोध करती है और जिस मनुष्य ने ? अपने को अर्पित

कर दिया है उसके लिए किसी भी धार्मिक या धर्मनिरपेक्ष कानून से अधिक श्रेष्ठ और मान्य होती है। फिर भी सदसद्विवेक स्थाई नहीं है और उसे शिक्षा द्वारा प्रौढ़ करना चाहिए। उस पर आलोचना के बिना भरोसा कर लेने पर स्वार्थ स्वार्थ नहीं लगता।

(६) अतएव सदसद्विवेक पर नियंत्रण होना चाहिए और उसकी बुद्धि मूलक व्याख्या करनी चाहिए। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि तब नैतिकता का मापदंड बुद्धि ही है। कांट ने बुद्धि को मापदंड सिद्ध करने की चेष्टा की थी किंतु उसका चिंतन भी उतना ही विवादग्रस्त है[1] जितना कि किसी और नैतिक विचारक का। यदि उदारता स्वार्थ से अच्छी है तो इसके माने यह नहीं हैं कि वह अधिक बुद्धिमूलक है। कुछ दार्शनिक उदारता को बुद्धिमूलक नहीं समझते। बुद्धिमूलकता नीतिशास्त्र का आवश्यक अंग होते हुए भी उसकी कसौटी नहीं है।

यह स्पष्ट है कि उचितानुचित के किसी एक मापदंड से काम नहीं चल सकता। नीतिशास्त्र का काम नैतिक समस्याओं के समाधान के लिए निश्चित नियम प्रस्तुत करना नहीं है। सक्रिय बुद्धि किसी भी बात पर अन्तिम शब्द कहने वाले सिद्धान्त का विरोध करती है। यह बात नीतिशास्त्र पर विशेष रूप से लागू होती है क्योंकि नैतिक निष्कर्षों की महत्ता हर व्यक्ति के लिए अलग अलग होती है। तत्कालिक निर्णय अक्सर किसी विकसित आदत या पसन्द या नियम के अनुसार ही किया जाता है। किंतु सिद्धान्तों पर अवकाश के समय भी विचार किया जा सकता है। सैद्धान्तिक नीतिशास्त्र का काम हर नई नैतिक समस्या को निश्चित रूप से सुलझाने के लिए ध्रुव आदर्श जुटा देना नहीं है। उसका काम वर्तमान आदर्शों और नए मूल्यों की खोज के लिए एक समुचित आलोचनात्मक प्रणाली को विकसित कर देना है जिससे नैतिक निर्णयों का आधार और भी दृढ़ बन सके।

---

[1] **दे०, छठा अध्याय।**

२

नीतिशास्त्र की विचार-प्रणाली

नैतिक स्थिति की परिभाषा पहले अध्याय में दी जा चुकी है। अब नैतिक स्थिति में निहित मूल्यों का ठीक ठीक पता लगाने के लिए किसी विचार-प्रणाली पर विचार करना रह जाता है। किंतु हम आधारभूत नैतिक मूल्यों की व्याख्या जिस ढंग से करेंगे उसका हमारी विचार-प्रणाली की खोज पर बहुत असर पड़ेगा। यदि नैतिक मूल्य स्थाई हैं और हर समय, हर स्थिति में, हर मनुष्य के लिए सार्वभौम रूप से सही हैं तो नैतिक विचार प्रणाली मुख्यतः निगमनात्मक (Deductive) होगी। निगमनात्मक प्रणाली में पहले से ही प्रस्तुत मूलभूत सिद्धान्तों को ठीक तरह से लागू करने की समस्या होती है, जैसे कोई न्यायाधीश पहले से ही प्रस्तुत कानूनों के आधार पर हर मुकदमें की परख करता है। नैतिक निरपेक्षवाद (Ethical Absolutism) इसी मत का समर्थन करता है। किंतु यदि नैतिक मूल्य केवल मनोविज्ञानीय या सामाजिक तथ्य ही हैं और वे समाज की रीति और मनुष्य की इच्छाओं के साथ साथ बदलते रहते हैं तो नैतिक विचार प्रणाली आगमनात्मक (Inductive) होगी। आगमनात्मक प्रणाली में किसी समाज के लोगों का वास्तविक आचरण और वे वैयक्तिक या सामूहिक रूप से जिस ध्येय की ओर बढ़ते हैं उसे देखा जाता है। फिर उस ध्येय को प्राप्त करने के उनके साधनों की खोज की जाती है। नैतिक सापेक्षवाद (Ethical Relativism) में इसी का प्रतिपादन किया जाता है। अब हमारे सामने यह प्रश्न है : क्या ध्रुव और सार्वभौम नैतिक सत्यों की सत्ता है? या नैतिकता का आधार राजनैतिक विधानों, आर्थिक साँचों, कला के रूपों और धार्मिक काण्डों की

तरह बदलता रहने वाला लोगों का रीति रिवाज ही है ? इस विषय पर दार्शनिकों में शुरू से ही गहरा मतभेद रहा है।

१ नैतिक निरपेक्षवाद (Ethical Absolutism)

नैतिकता के बारे में सार्वजनिक प्रवृत्ति दुरंगी होती है। लोग एक ओर तो अच्छे और बुरे काम की परख करने के लिए कोई व्यवस्थापित कानून की कसौटी चाहते हैं किंतु दूसरी ओर जब वही कानून उनके स्वार्थ के विरुद्ध पड़ते हैं तो वे उनकी अवहेलना करते हैं। तो क्या हम दूसरों की परख और तिरस्कार करने के लिए अन्दर ही अन्दर कोई व्यवस्थापित कानून चाहते हैं और उसी कानून से अपनी परख हो सकने के विचार से खिन्न हो जाते हैं ? इस दुरंगी प्रवृत्ति के कारण न्याय, देशप्रेम और उदारता की प्रशंसा और झूठ बोलने, चोरी और हत्या का तिरस्कार कर सकने के लिए कुछ निरपेक्ष नैतिक मान्यताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं, उनका बड़ा बखान किया जाता है और वे जहाँ तक स्वार्थ में असुविधा-जनक नहीं बनतीं वहाँ तक उनका पालन भी किया जाता है; किंतु यदि वे स्वार्थ के रास्ते में आ जाती हैं तो उन्हें व्यावहारिक अपवाद समझा जाता है। यह असंगति नैतिक मूलशब्दों की अस्पष्टता और दुरूहता के कारण ही होती है।

कुछ अपूर्ण निरपेक्ष मान्यताएँ

हमें सच बोलना चाहिए : इस नैतिक वाक्य पर ध्यान दीजिए। क्या हम इसको निरपेक्ष मान्यता मानने को तैयार हैं ? तो हम उस वैद्य को क्या कहेंगे जो रोगी के स्वास्थ्य लाभ या नीरोग हो सकने के लिए झूठ बोलता है ? उसका झूठ बोलना उचित है अथवा अनुचित ? इसका उत्तर देने के लिए शायद हम पहले रोगी की स्थिति और वैद्य के मन के सन्देह को जानना चाहेंगे। यदि मृत्यु निश्चित है तो क्या रोगी को उसे जानने का अधिकार नहीं है ? हो सकता है कि वह अपने मरने के पहले कुछ व्यवस्था करना चाहता हो या वह मरने के लिए तैयार होना चाहता

हो। हो सकता है कि मृत्यु की संभावना बहुत कम हो किंतु रोगी की स्थिति इतनी शोचनीय हो कि वह शायद मृत्यु के डर से ही मर जाय। ऐसी हालत में वैद्य तथ्यों के विपरीत आशा प्रकट करके क्या अनुचित करेगा ?

ऐसे बहुत से लोग हैं जो किसी व्यक्ति की जान बचा सकने के लिए भूठ बोल जाते हैं किंतु बाद में भूठ बोलने के लिए पछताते हैं। बहुत से लोग यह कहेंगे कि ऐसी स्थितियों में शमन करने वाली बातें भी होती हैं। यद्यपि भूठ बोलना उचित नहीं है किंतु वह अवसर विशेष पर क्षम्य हो सकता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जहाँ भूठ न बोलना अनुचित होता है। किसी देश प्रेमी को ज़रा सा भूठ बोलकर फाँसी से न बचाना अनुचित समझा जायगा। ऐसे अपवादों को मानने से सच बोलना निरपेक्ष नैतिक नियम नहीं रहता। भूठ बोलना किन परिस्थितियों में ठीक है ? वैद्य हर अवसर पर अपने रोगी से भूठ नहीं बोल सकता। देशप्रेमी की जान बचाने के लिए हर परिस्थिति में भूठ बोलना ठीक नहीं है—विशेषकर उस हालत में जब उसकी जान बच जाने से देश पर और भी भयंकर संकट आ जाय। अनेक छोटे-छोटे अवसरों पर तो भूठ के बारे में रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की जाती। किसी के यहाँ स्वादहीन खाना खाकर भी हम उसको मेज़बान के सामने बुरा नहीं कहेंगे। शिष्टाचार वश जो असत्य बातें कही जाती हैं उन्हें भूठ बोलना कहा जाय या नहीं ? यदि कहा जाय तो सच और भूठ बोलना अपने आप में उचित या अनुचित नहीं है। भूठ बोलने का अर्थ सत्य का गलत कथन नहीं है; भूठ का अर्थ है सत्य का वह गलत कथन जो नैतिक दृष्टि से समर्थनीय नहीं बन सकता। इस अर्थ के अनुसार 'भूठ बोलना अनुचित है' इस कथन में कुछ भी नहीं कहा गया है। यह कथन केवल पुनरुक्ति मात्र ही है। 'भूठ बोलना अनुचित है' इसका उत्तर किसी स्थिति के मूल्य विशेष को बताकर ही दिया जा सकता है, केवल भूठ शब्द के अर्थ को बताकर नहीं।

चोरी नहीं करना चाहिए : ठीक है। किंतु चोरी जब बड़े पैमाने पर

की जाती है और प्रत्यक्षतः कानून के विरुद्ध नहीं होती तो उस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। गिरहकटों को तो जेल भिजवा दिया जाता है किंतु लेन देन के मामलों में जो काली करतूतें चलती हैं उनकी खोज तक नहीं की जाती। चोरी की व्याख्या बहुत संकीर्ण रूप से की जाती है। समाजवाद चोरी की विशद व्याख्या करता है और देश के प्राकृतिक साधनों से स्वार्थ सिद्धि को भी चोरी का रूप कहता है। झूठ की भाँति 'चोरी' शब्द भी अस्पष्ट है। 'चोरी नहीं करना चाहिए' इस कथन में भी या तो पुनरुक्ति है या अपवादों को माना जाता है।

'हत्या नहीं करना चाहिए', इस वाक्य को लीजिए। क्या यह वाक्य युद्ध के समय सैनिक पर लागू होता है? क्या यह न्यायसंबंधी मृत्युदण्ड पर भी लागू होता है? क्या न्यायाधीश अपराधी को मृत्यु दंड देकर और जल्लाद उसे फाँसी पर चढ़ा कर अनैतिक काम करता है? क्या आत्मरक्षा या दूसरे की जान बचाने के लिए गोली चलाना अनुचित है? फिर हत्या के अपरोक्ष तरीक़ों के बारे में क्या कहा जा सकता है? यदि हम व्यापार में इतनी भीषण प्रतियोगिता करने लगें कि हमारा प्रतियोगी दिवालिया होकर आत्महत्या कर ले तो उसकी हत्या में हमारा हाथ कहाँ तक है? यदि कोई देश किसी अन्य देश के कच्चे माल और बाज़ार पर इस तरह अधिकार कर ले कि उस देश के निवासी भूखों मरने लगें तो वह देश शोषित देश के लोगों की हत्या करता है या नहीं?

झूठ बोलने, चोरी और हत्या करने के नैतिक निषेध आवश्यक होते हुए भी निरपेक्ष नहीं हैं। अपवाद की स्थिति विशेष की जाँच करके ही नैतिक निषेधों को ठीक से समझा जा सकता है, नहीं तो वे केवल पुनरुक्ति मात्र ही होते हैं और दो शब्दों के तार्किक सम्बन्ध के अलावा और कुछ नहीं बताते। प्रचलित नैतिक वाक्यों में अपवाद होने का यह अर्थ नहीं है कि सार्वभौम रूप से सही नैतिक सिद्धान्तों की सत्ता ही नहीं होती। यह ठीक है कि प्रचलित नैतिक वाक्य सापेक्ष रूप से ही सत्य होते हैं किंतु उनकी और उनके अपवादों की सत्यता को जानने के लिए स्वयंसिद्ध

सिद्धान्तों की अपेक्षा होती है। इस पर अभी विचार किया जायगा। पहले हमें वैधानिक और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के अनुसार विचार करने वालों की मान्यताओं पर ध्यान देना चाहिए।

वैधानिक विचार-प्रणाली

वैधानिक प्रणाली में नैतिकता की परख कुछ निश्चित नियमों से की जाती है। नियम पहले से ही प्रस्तुत और अटल होते हैं। उनसे इस प्रश्न कि अमुक अवसर पर किस तरह काम करना चाहिए के हर रूप का उत्तर मिल जाता है। फिर भी चूँकि नियम भाषा द्वारा व्यक्त किए जाते हैं अतएव उनको विशेष स्थितियों में लागू कर सकने के लिए उनकी व्याख्या करनी पड़ती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे सकने के लिए उग्र विधानवेत्ता उल्लंघनीय स्थितियों का पहले से ही वर्गीकरण कर लेता है। आचार को निरोधाज्ञा और निषेध से नियमित किया जाता है।

वर्गीकरण से नैतिकता का अर्थ इतना बढ़ जाता है कि उसका स्वभाव खतरे में पड़ जाता है। कुछ निश्चित नैतिक सिद्धान्तों को मानने और उनका निरपेक्ष रूप से पालन न करने वाला व्यक्ति यह जानता है कि अनेक अवसरों पर झूठ बोलना ठीक होता है। जब सच बोलने से कोई बड़ा हित ख़तरे में पड़ने लगता है तो उस अवसर पर लोग झूठ ही बोलते हैं। किंतु वर्गीकरण करने वाला झूठ को 'व्याख्या करना' आदि अन्य नाम देकर गलत कथन पर ही अड़ा रह सकता है। इंग्लैंड का राजा हेनरी सप्तम वर्गीकरण से लाभ उठाना जानता था। स्पेन के किसी राजकुमार ने ड्यूक आव् सफ़ोक को अपने यहाँ आश्रय दे रक्खा था। हेनरी ने ड्यूक को न मारने के वादे पर वापस ले लिया था किंतु वह अपनी वसीयत में लिख गया था कि उसके बाद उसका लड़का ड्यूक को तत्काल मार डाले।

नीतिशास्त्र और व्यवस्थापित विधान

व्यवस्थापित विधान की व्याख्या करने के लिए जिस ढंग से विचार किया जाता है उसे इसलिए देखना आवश्यक है कि कभी-कभी उसे

नैतिक चिंतन का भी आदर्श समझ लिया जाता है। न्याय संबंधी कार्य का स्पष्ट अर्थ नियमों और कानूनों को विशेष स्थितियों पर ठीक से लागू करना होता है। न्यायाधीश का काम कानूनों की वास्तविकता पर विचार करना होता है। उसका काम अपने व्यक्तिगत मापदंडों और रुचि के अनुसार न्याय और नीति संबंधी कानूनों को कैसा होना चाहिए? यह विचार करना नहीं है। इस पर विचार करना जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का काम है। न्यायालय कानून की व्याख्या और स्थिति विशेष पर उसे ठीक से लागू ही कर सकता है, कानून नहीं बना सकता। यह काम तभी हो सकता है जबकि कानूनी चिंतन निगमनात्मक हो और स्थितियों के वर्गीकरण—नई स्थितियों को कानून के अन्तर्गत लाने—से किया जाय।

किंतु कानून के अन्तर्गत स्थितियों और घटनाओं का वर्गीकरण तीन कारणों से पर्याप्त नहीं है। एक तो तैयार कानूनों में सदा पारस्परिक संगति नहीं होती या फिर किसी कानून और राज्य या संघ के विधान में कोई विरोध हो सकता है। इन विरोधों का समाधान न्यायाधीश द्वारा किसी कानून की व्याख्या और उसको दी गई महत्ता पर ही निर्भर करता है।

दूसरी बात यह है कि मानवी जीवन सदा बदलता रहता है। इस परिवर्तन के साथ कुछ ऐसी नई स्थितियाँ आ जाती हैं जिन्हें कानून बनाने वाले देख नहीं सकते। वे स्थितियाँ किसी नियम के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनके उत्पन्न होने के कारण नए आविष्कार या नई तरह का सामाजिक जीवन हो सकते हैं। वायुयान के आविष्कार ने आकाश-मार्ग की सम्पत्ति के अधिकारों की समस्या को पैदा कर दिया है। परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक सम्बन्धों, श्रम की नई शर्तों, नए आविष्कारों और बढ़ती हुई आबादी से नई तरह के स्वार्थों का संघर्ष पैदा हो चुका है जिन्हें जब कचहरी में लाया जाता है तो वे बिल्कुल 'नवीन बातें' लगते हैं।

> ये कहा जा सकता है कि ये 'नवीन बातें' बहुत कम होती हैं और पूर्व दृष्टान्तों के बढ़ने से और भी कम होती जाती हैं। इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि ये 'नवीन बातें' विरल इसलिए लगती हैं क्योंकि हम अभिभावित सिद्धान्त की प्रधानता के कारण उन पर ध्यान नहीं दे पाते। हर स्थिति पहली स्थिति से किसी न किसी प्रकार भिन्न होती है। किंतु पूर्व दृष्टान्त ढूँढ़ने की प्रवृत्ति के कारण हम स्थितियों के भेद की उपेक्षा कर बैठते हैं। यह भी ज़रूरी नहीं है कि फैसला किए गए विषयों की संख्या के बढ़ने पर 'नवीन बातों' की संख्या घट जाय। 'नवीन बातें' निर्णय किए गए विषयों पर निर्भर न होकर जीवन परिवर्तन की गति पर निर्भर हैं। पूर्व दृष्टान्तों के बढ़ने से चतुर व्यक्ति दोनों पक्षों के पूर्व दृष्टान्तों को आसानी से ढूँढ सकता है। अतएव वैधानिक निर्णय का काम न्यायाधीश के मत, सार्वजनिक नीति और वस्तुओं के सामान्य स्वभाव और योग्यता से निर्धारित होता है।[1]

इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य से वैधानिक कार्यविधि को सीमित करने वाली तीसरी महत्वपूर्ण बात का पता चलता है। न्याय के सम्बन्ध में किसी भी न्यायाधीश का दृष्टिकोण एकदम निरपेक्ष नहीं हो सकता किंतु वह व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रचलित सामाजिक सम्मतियों के अनुसार बदलता रहता है। माना कि कोई सम्मानीय न्यायकर्त्ता किसी मामले पर, जहाँ तक बन पड़ेगा, निरपेक्ष निर्णय ही देगा किंतु फिर भी मनुष्य होने के नाते उसके निर्णय पर उस समय की प्रचलित सामाजिक सम्मतियों, अभिरुचियों आदि की छाप अवश्य पड़ेगी।

---

१ मॉरिस आर० कोहेन, लॉ ऐण्ड दि सोशल ऑर्डर, पृ० १२२-२३ (हार्कोर्ट)

> विधान को किसी आदर्श समाज का संचालन करने वाला सैद्धान्तिक नियम नहीं माना जा सकता। विधान को अर्थ-शास्त्रियों और सामाजिक वैज्ञानिकों की खोजों के अनुसार वर्तमान अवस्थाओं और परिस्थितियों पर घटित करके ही उस पर ठीक से विचार किया जा सकता है।[1]

अतएव यह स्पष्ट है कि वास्तविक वैधानिक कार्यविधि या उससे प्राप्त हो सकने वाली संभावनाओं को स्थितियों का वर्गीकरण करके नहीं समझा जा सकता। निर्णय की स्वतंत्रता शायद सब महत्त्वपूर्ण निश्चयों में वास्तविक और आवश्यक है। यों तो प्रतिष्ठित कानूनों को उपलब्ध पूर्व दृष्टान्तों के आधार पर किसी स्थिति पर लागू करना ही वैधानिक कार्य-विधि का आदर्श है किंतु जब पूर्व दृष्टान्तों या कानूनों में ही असंगति बैठती हो, जब पूर्वदृष्टान्त या कानून वर्तमान स्थिति पर ठीक से न लागू होते हों या जब कानून के अर्थ की व्याख्या के बारे में सन्देह हो तो स्वतंत्र निर्णय की आवश्यकता पड़ जाती है। यदि किसी स्थिति में उप-र्युक्त तीनों बातें हो तो वैधानिक कार्यविधि को लिखित नियमों और निर्णय किए गए पूर्वदृष्टान्तों के आगे जाने वाले सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। तब ये दो प्रश्न उठाने चाहिएँ : कानून का वास्तविक तात्पर्य और उसकी समीचीन व्याख्या क्या है ? इन दोनों प्रश्नों में खुले या छिपे तौर से नैतिक रूप से श्रेयस्कर होने की बात आ जाती है। 'वास्तविक तात्पर्य' की माँग यह है कि किसी कानून के बनाने वालों ने उस कानून से कौन-सा सामाजिक हित चाहा था ? 'समीचीन व्याख्या' की माँग यह है कि शब्दों के व्यवहृत अर्थ की सीमा के अन्दर कानून से अधिकाधिक सामाजिक हित प्राप्त करने के लिए कानून की व्याख्या कैसे करनी चाहिए ? कानून के वास्तविक रूप में लागू होने में सामाजिक हित की भावना किसी न किसी में सदा रहती है।

---

[1] बेंजमिन एन० कार्डोज़ो, दि नेचर आव् दि जूडीशल प्रोसेस; पृष्ठ ८१

अतएव जो लोग व्यवस्थापित विधान के आदर्श पर नैतिक स्थितियों को परखने के लिए नैतिक विधान की स्थापना करना चाहते हैं उनके सामने यह असमञ्जसपूर्ण बात आती है : कानून विभिन्न हितों को पाने के ढंगों की सीमाएँ निर्धारित करता है किंतु उसे नैतिक समर्थन की जरूरत होती है। यह समर्थन उस सामाजिक हित में ही मिल सकता है जिसको प्राप्त करने के अभिप्राय से ही कानून बनाया जाता है। किंतु पसन्द और अभिरुचि पर आधारित होने से सामाजिक हित की धारणा बदलती रहती है। अतएव हमारे सामने बार-बार यह प्रश्न आता है कि इन बदलती हुई धारणाओं में क्या निरपेक्ष और सार्वभौम नैतिक सिद्धान्त मिल सकते हैं।

क्या स्वयंसिद्ध नैतिक सिद्धान्त होते हैं ?

नैतिक स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों पर प्रश्न उठाने का अर्थ यह है कि उनको नैतिक समस्याओं पर लागू किया जा सकता है या नहीं। क्या गणित और तर्कशास्त्र की भाँति नीतिशास्त्र में भी वादविवाद से परे मूलभूत सिद्धान्त हैं ? जब ४ + ३ = ७ या 'कोई निश्चित वस्तु एक ही समय में दो स्थानों पर नहीं हो सकती' इनके अर्थ पर विचार किया जाता है तो उनकी सत्यता तुरन्त मान ली जाती है। किंतु ४ + ३ = ९ की गलती तुरन्त पता चल जाती है। यदि कोई आदमी पहली दो बातों को अस्वीकृत और दूसरी बात को स्वीकृत करता है तो वह उनको किसी और ही अर्थ में ले रहा है जो सामान्य अर्थ से अलग है। क्या समान रूप से अटल सिद्धान्तों पर नैतिक चिंतन किया जा सकता है ?

सत्रहवीं शती के दार्शनिक और कवि हेनरी मोर ने इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया था। उसने कुछ ऐसे स्पष्ट और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की तालिका बनाई थी जिन पर पक्षपात हीन विचार करना ही उनको मान लेना था और उनमें वादविवाद या निगमन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

१. श्रेयस्कर वह है जिसमें कृतज्ञता और सुख होता है, जो प्रत्येक प्राणी के अनुकूल होता है और उसके जीवन का संरक्षण करता है। (पाप की परिभाषा इसके ठीक विरुद्ध दूसरे सिद्धान्त में की गई है)।

५. श्रेयस्कर को अपनाना और पाप से बचना चाहिए; कम श्रेय की अपेक्षा अधिक श्रेय को पसन्द करना चाहिए। बड़े पाप से बचने के लिए छोटे पाप से भी दूर रहना चाहिए।

१३. सब से बड़े और पूर्ण श्रेय के मार्ग पर बड़े उत्साह से बढ़ना चाहिए; कम श्रेय के मार्ग पर बढ़ने का उत्साह भी कम होना चाहिए।

१४. किसी व्यक्ति से हम जिस हित की आशा करते हैं वही उसके प्रति भी करते हैं और वही अन्य लोगों के प्रति भी किया जा सकता है।

१५. जो पाप हम स्वयं नहीं करते उसे दूसरों के प्रति भी नहीं करते और उसे अन्य लोगों के प्रति भी नहीं करेंगे।

१६. भलाई का बदला भलाई से दो, बुराई से नहीं।

१७. मनुष्य के पास अच्छे और सुखी जीवन बिताने के साधन होना श्रेयस्कर हैं।

१८. यदि सुख के साधन होना एक मनुष्य के लिए श्रेयस्कर हैं तो दो मनुष्यों के लिए दुगने, तीन के लिए तिगुने और हज़ार के लिए हज़ार गुने श्रेयस्कर हैं।

१९. दूसरों के अभाव और मुश्किलों में रहने से यह अच्छा है कि एक आदमी का भोगविलास पूर्ण जीवन छिन जाय।

२२. हरेक व्यक्ति को उसका अधिकार देना अच्छा और न्यायोचित है।

मोर के इन सिद्धान्तों पर दो आलोचनात्मक प्रश्नों के साथ विचार करना चाहिए : क्या हरेक सिद्धान्त सार्वभौम रूप से सत्य है ? क्या ये सिद्धान्त यथातथ स्थितियों पर ठीक से लागू होते हैं ? अनुभव स्वतंत्र (a priori) विचार प्रणाली से जिन निश्चित सिद्धान्तों की खोज की जाती है वे इतने सामान्य होते हैं कि उनकी व्याख्या और उनको लागू करने में बहुत अन्तर पड़ जाता है। संसार के किसी धर्म या नैतिक विचार

ने हर नैतिक समस्या के समाधान के लिए सफल नियम नहीं दिए हैं। नैतिक समस्याओं का समाधान पहले से ही नहीं किया जा सकता; उनकी कठिनता उनकी नवीनता में होती है। नैतिक सिद्धान्त पत्थर की लकीरें नहीं हैं। यद्यपि वे आदर्शात्मक हो सकते हैं किंतु वे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए जाने पर ही ठीक से लागू किए जा सकते हैं।

> विज्ञान बन सकने के लिए नैतिकता को विकासशील होना चाहिए, इसलिए नहीं कि मनुष्य समस्त सत्य को नहीं खोज सका है वरन् इसलिए कि जीवन परिवर्तनशील है और उस पर पुराने नैतिक सत्य लागू नहीं किए जा सकते······किंतु नैतिक निर्णयों के प्रयोगवादी (Experimental) होने का यह अर्थ नहीं है कि वे अनिश्चित या अस्थाई होते हैं। सिद्धान्त वे मान्यताएँ होती हैं जिन पर प्रयोग किया जाता है······अतीत में आचार पर इतना प्रयोग हो सकने से ही अनेक सिद्धान्तों का आदर किया जाता है। उनकी उपेक्षा करना मूर्खता है। किंतु सामाजिक स्थिति बदलती है; और इस बदलती स्थिति में ठीक तरह से लागू हो सकने के लिए उन सिद्धान्तों को न बदलना भी मूर्खता है।[1]

२ नैतिक सापेक्षवाद (Ethical Relativism)

नैतिक निरपेक्षवाद का ठीक विरोधी नैतिक सापेक्षवाद है जिसके अनुसार मूल्य अटल न होकर मानवी स्वभाव के साथ साथ बदलते रहते हैं। तुलनात्मक रूप से कुछ मानवी मूल्य अधिक प्रचलित और स्थाई हैं। बच्चों के प्रति माता का प्रेम, अपनी जाति के प्रति सच्चाई और साहसी होना सभी समाजों में मान्य हैं। अपनी जाति के लोगों और मित्रों के प्रति नीचता या छल कपट सभी जगह तिरस्कृत हैं। एक विवाह

---

१ जॉन ड्यूई, ह्यूमन नेचर एण्ड कॉन्डक्ट, पृ० २३९ (माडर्न लाइब्रेरी)

करना, आदमी का मांस खाना और अपने व्यक्तिगत शत्रु से बदला लेना ये मूल्य विभिन्न समाजों में विभिन्न रूप से स्वीकृत या अस्वीकृत किए जाते हैं। सापेक्षवादी का यह कहना है कि हम किसी समाज के वास्तविक रीति-रिवाजों के अध्ययन के आधार पर यही कह सकते हैं कि उस समाज में किसी समय किन मूल्यों को प्रधानता दी जाती थी या माना जाता था। सच्ची परख वास्तविकता में ही है और वास्तविकता बदलती रहती है। यदि किसी का उचित और अनुचित का दृष्टिकोण उसके समाज के दृष्टिकोण से भिन्न है तो वह वैयक्तिक ही माना जायगा और उसका मूल्य या तो उस व्यक्ति तक ही सीमित होगा या उस दृष्टिकोण को समाज द्वारा मान्य करा देने की सफलता में होगा। उचित और अनुचित पर निर्भर हैं; उनकी अपनी कोई सत्यता नहीं है। वे मनुष्य के स्वभाव और परिस्थिति के दबाव के अनुसार बदलते रहते हैं।

नैतिक सापेक्षवाद की प्रधान युक्तियाँ तीन हैं : सामाजिक, मनोविज्ञानीय और भाषार्थ सम्बन्धी। सामाजिक सापेक्षवादी मनुष्य जाति की नैतिक विभिन्नताओं के आधार पर कुछ मूल्यों को दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझना ग़लत ठहराता है। मनोविज्ञानीय सापेक्षवादी के अनुसार मनुष्य का सारा आचरण पहले से ही निर्धारित होता है। मनुष्य अपने जिस मानसिक आचरण से मूल्यांकन करता है वह भी पहले से ही निर्धारित होता है अतएव मूल्यांकन में कोई मूलभूत विषयभाव (objectivity) नहीं होता वरन् मनोभौतिक आचरण की वास्तविकता और उसके संभव कारणों और पूर्वकथनीय परिणामों की व्याख्या ही होती है। भाषार्थपेक्षी सापेक्षवादी (semantic relativist) के अनुसार यथातथ्य मूल्यांकन के अतिरिक्त मूल्यों की कोई सत्ता नहीं होती क्योंकि मूल्य बताने वाले वाक्यों का कोई वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता।

सापेक्षवाद का सामाजिक आधार

विभिन्न काल और स्थानों की सामाजिक संस्थाओं और नैतिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन करने से उनकी विभिन्नता के बारे में कोई सन्देह

नहीं रहता। अँग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक (१६३२-१७०४) ने अपने "मानवी बुद्धि सम्बन्धी निबन्ध" (Essay Concerning Human Understanding) में यह कहा है :

> जो व्यक्ति मनुष्य जाति के इतिहास और अलग-अलग जातियों के आचरण को तटस्थ रूप से देखेगा उसे तुरन्त यह विश्वास हो जायगा कि दूसरों से बिल्कुल विरोधी व्यावहारिक सम्मतियों और जीवन यापन के नियमों (सिवाय उनके जो समाज में एकसूत्रता रखने के लिए नितान्त आवश्यक हैं और जिनकी अक्सर उपेक्षा की जाती है) से संचालित विभिन्न समाजों की अभिरुचि से परे कोई नैतिकता या सद्गुण नहीं है।[1]

लॉक ने यहाँ एक साधारण बात कही है। नैतिक मापदण्डों में भेद होता है, इसे सापेक्षवादी और निरपेक्षवादी दोनों ही मानेंगे। किंतु सापेक्षवादी अपनी युक्ति में इस विभिन्नता का उपयोग और ढंग से करता है। वह केवल नैतिक आचार और नियमों के ही अनेक रूप नहीं मानता, यह तो ठीक है ही, किंतु उचित और अनुचित के भी अनेक रूप मानता है। "नियम हर बात को उचित बना सकते हैं।"[2] नियम क्या हैं यदि यह सार्वभौम रूप से न समझा जा सके तो उन नियमों से अनुबद्ध कैसे रहा जा सकता है? क्रूर से क्रूर रीति को और जघन्य से जघन्य बात को किसी न किसी समय स्वीकार किया गया है और पवित्र कर्तव्य समझा गया है। नरमांस खाना, बहुविवाह आदि आज बहुत सी घृणायोग्य बातों के कभी अपने दिन रहे थे; सूद पर कर्ज़ देना, थियेटर जाना और विजातीय विवाह करना आदि बातें कुछ समाजों में तिरस्कृत होती रही हैं। तो क्या नैतिकता के सारे मापदण्ड किसी विशेष समय

---

[1]--१, ३, १०

[2] **जॉन ग्राहम सम्नर, फोकवेज़, परि० १९ वाँ**

और स्थान पर स्वीकृत किए जाने वाले रीति रिवाज ही नहीं हैं ? क्या उचित और अनुचित की कोई निश्चित कसौटी भी है ?

सामाजिक सापेक्षवादियों के विरोध में दो तरह की युक्तियाँ दी गई हैं। पहली युक्ति में समाज की विभिन्नता को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों का भेद बताया जाता है। फ्रैंक चैपमैन शार्प ने बाह्य और आन्तरिक नैतिकता में भेद करके विभिन्न युगों की जातियों और धार्मिक सम्प्रदायों के नैतिक विवेक की विभिन्नता को "कार्य के परिणामों की विभिन्न धारणा" बताया है जिसका अर्थ "नैतिक दृष्टि की विभिन्नता" नहीं है।

मध्यकालीन सती प्रथा और नास्तिकों को जला देना क्या बुरा था ? हम स्वीकारात्मक उत्तर इसलिए देते हैं कि ये दोनों प्रथाएँ हमारी वर्तमान नैतिक धारणाओं के ठीक विरुद्ध पड़ती हैं। किंतु फ्रीडरिख़ पॉलसन का यह कहना है कि शायद यह प्रथा मध्यकाल के बढ़ते हुए नगरों की नागरिकता को पुष्ट बनाने के लिए अस्थाई आवश्यक साधन रही हो। उसका कहना है कि "सार्वभौम मानवी नैतिकता के नियमों को जीवन के ऐतिहासिक रूपों और शर्तों के अनुरूप बनाकर ही उनसे आचार का निर्णय और आचार को निर्धारित किया जा सकता है।"[१] हम मध्यकालीन सामाजिकता की पुष्टि करने वाले सामान्य सिद्धान्त की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं; किंतु वह कैसे उन्नत की जाय और उसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता कहाँ तक त्यागनी चाहिए इस विषय में हम मध्यकाल से मतभेद रखते हैं। संक्षेप में पहली विरोधी युक्ति यह है कि नैतिक मूल्यों की विभिन्नता गौण और ऊपरी है; नैतिक रीति और प्रथा का भेद नैतिकता के मूलभूत विश्वासों के कारण न होकर प्रचलित सम्मतियों की विभिन्नता के कारण होता है।

जो भी हो लेकिन साध्यों और उनको प्राप्त करने वाले साधनों के

---

[१] फ्रीडरिख़ पॉलसन, ए सिस्टेम आव् एथिक्स, पृ० २१.

भेद को, यद्यपि वह बहुत जरूरी है, अधिक आगे नहीं ले जाना चाहिए। ऊपरी तौर से जीवन की उपेक्षा का आधार आत्मा की अमरता में हो सकता है। किंतु इस व्याख्या को सार्वभौम नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि पाश्चात्य राष्ट्र दो महायुद्धों के कारण जीवन से उदासीन से हो गए हैं किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका विश्वास किसी पारलौकिक जीवन में बढ़ गया है। नैतिक विश्वास यथातथ विषयों की सम्मतियों से प्रभावित अवश्य होते हैं किंतु नैतिक विश्वासों को सम्मतियों तक ही नहीं सीमित किया जा सकता। नैतिक दार्शनिक को नैतिक विश्वासों की उन वास्तविक बातों पर ध्यान देना चाहिए जिनका प्रत्यानयन नहीं हो सकता।

यदि मूलभूत नैतिक विश्वासों के भेदों की सत्ता मान ली जाय तो सापेक्षवाद के आलोचक को युक्ति यह होगी कि "जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान की सामग्री इन्द्रिय-अनुभव है उसी प्रकार नीतिशास्त्र की सामग्री शिक्षित और विचारपूर्ण लोगों के नैतिक विश्वास हैं।" जिस तरह प्राकृतिक विज्ञान में कुछ बातों को भ्रमात्मक माना जाता है उसी प्रकार नीतिशास्त्र में भी कुछ भ्रमात्मक सामग्री होती है। प्राकृतिक विज्ञान की बातों को तभी अस्वीकृत किया जाता है जब वे अधिक ठीक इन्द्रिय-अनुभव का विरोध करने लगे; और नैतिक विश्वासों को तब अस्वीकृत किया जाता है जब वे सोचविचार की नींव पर खड़े पुष्ट विचारों का विरोध करते हैं।"[1] अतएव यदि सब लोगों की नैतिक चेतना पर्याप्त विकसित हो तो नैतिक सम्मति में विभिन्नता नहीं हो सकती; नैतिक स्थिति को बौद्धिक रूप से न समझ सकना ही नैतिक विभिन्नता का कारण है। किंतु सापेक्षवादी इसका प्रभावशाली उत्तर देता है :

> पर्याप्त रूप से विकसित नैतिक चेतना का अर्थ क्या है? मेरी समझ में व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ लेखक के नैतिक विश्वासों को स्वीकार कर लेना है। लेखक की युक्ति दोष और

[1] डब्ल्यू० डी० रॉस, दि राइट एण्ड दि गुड, पृ० ४१.

भ्रमपूर्ण है क्योंकि युक्ति में नैतिक निर्णयों को सार्वभौम मान लिया गया है जो वे नहीं होते; साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि युक्ति अपनी मान्यताओं को ही सिद्ध करना चाहती है...सत्य का सार्वभौम होना तथ्यों का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाले सब लोगों द्वारा निर्णयों की सत्यता मान लेने पर निर्भर होता है नैतिक निर्णय सत्य की भाँति सार्वभौम नहीं हो सकते क्योंकि उनके विधेयों (predicates) में गुणों का ही नहीं मात्रा (quantity) का भेद भी होता है। सत्य और झूठ में मात्रा नहीं होती; किंतु अच्छाई और बुराई में मात्रा होती है, सद्‌गुण या योग्यता कम या अधिक हो सकती है, कर्तव्य कम या अधिक कड़ा हो सकता है...नैतिक अनुमानों का यह मात्रात्मक भेद नैतिक धारणाओं का मूल संचारीभावों (emotions) में होने से होता है।[1]

मनोविज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

समाज-शास्त्र से मनोविज्ञान की ओर आने का अर्थ सामाजिक प्रथाओं को छोड़कर मनुष्य को उसके मनोभौतिक रूप में समझना है। सारे वर्णनात्मक विज्ञानों में मनोविज्ञान ही नैतिक खोज से ज्यादा सम्बन्धित है और यहीं आदर्शात्मक विज्ञान नीतिशास्त्र और वर्णनात्मक विज्ञानों का महत्वपूर्ण सम्बन्ध समझा जा सकता है। हर प्रवृत्ति, हर मूल्यांकन और हर निर्णय किसी मनुष्य के मानसिक जीवन की विशेषता होती है। इसलिए उसका वर्णन, अध्ययन और काफी बड़ी सीमा तक उसके प्रत्यावर्तन का पूर्वकथन हो सकता है। संक्षेप में मनुष्य के प्रकट मनोभावों के अतिरिक्त उसकी अप्रकट और आन्तरिक भावनाओं का प्रतिरूप भी उसके मनोभौतिक आचरण में खोजा जा सकता है। मनोविज्ञान में इन्हीं बातों की खोज की जाती है, इन्हीं बातों के संभव प्रत्यावर्तन की शर्तों के बारे में सामान्य सिद्धान्त बनाए जाते हैं और

---

[1] एडवर्ड वेस्टर्मार्क, एथिकल रिलेटिविटी, पृ० २१७-१८ (हार्कोर्ट)

उनको प्रस्तुत करने, उनका संशोधन और उनके निवारण की कार्यविधियों की खोज की जाती है। अतएव मनोविज्ञान नीतिशास्त्र को नैतिक समस्याओं के विशेष पहलुओं पर विचार करने में बड़ी सहायता देता है। मनोविज्ञान मनुष्य की मनोदशा का विश्लेषण कर उसकी नैतिक पसन्द और वरण पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाल सकता है।

वास्तव में नैतिक निर्णयों में मनोविज्ञानीय सोच विचार की बहुत आवश्यकता है। हम एक हत्यारे का सहज तिरस्कार कर देते हैं किंतु यदि हमें यह पता लग जाय कि वह एक गन्दे वातावरण में पला था, उसका बाप शराब पीकर गाली गलौज करता था और उसकी माँ को मारता था, उसके चारों ओर क्रूरतापूर्ण पाशविक काम होते रहते थे, छोटी उम्र में ही उसे बिना किसी अपराध के जेल भेज दिया गया था, उसके लिए ईमानदारी से जीवन बिताने के सारे रास्ते बन्द कर दिए गए थे और उसे विवश होकर चोर से डाकू बनना पड़ा और अपने बच सकने के लिए उसने हत्या कर डाली तो क्या हम उस पर तरस खाकर उससे सहानुभूति नहीं रक्खेंगे। किसी व्यक्ति का नैतिक निर्णय हत्यारे के इस इतिहास से अवश्य प्रभावित होगा। ज्ञान से अपराध के प्रति तटस्थता उत्पन्न नहीं होती। किसी भी कारण से की गई हत्या में दूसरे का अधिकार छीन लिया जाता है। ज्ञान इस हत्या में हत्यारे के अलावा हमें भी निष्क्रिय भागी बनाता है क्योंकि हमने एक व्यक्ति को हत्यारा बना देने वाली सामाजिक विद्रूपताओं को पनपने दिया था। यदि हम नैतिक ईमानदारी के साथ सोचें तो अपराध की व्याख्या करने वाली बातों के अन्तर्गत हम भी आ जायँगे, चाहे वैधानिक रूप से न आएँ। यथार्थवादी नैतिक खोज में मनोभौतिक बातों के अलावा अपराध को प्रेरणा देने वाली सामाजिक अवस्थाओं की खोज भी की जाती है।

नैतिक विवेक करने और सिद्धान्त बनाने में मनोविज्ञानीय सामग्री के उपयोग के बारे में चेतावनी के तौर पर दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। इधर हाल में मनोचिकित्सा (psychotherapy) के क्षेत्र में

उन्नति होने से मनोविज्ञान का आश्रय बहुत लिया जाने लगा है। अवचेतन (subconscious) मन के ज्ञान से अपनी स्थूल प्रवृत्तियों में सुधार करने और उनको अच्छे लक्ष्य की ओर लगाने की बजाय मनोविश्लेषण से केवल दृढ़ संकल्प से ही सम्पन्न हो सकने वाले काम की आशा कर व्यावहारिक भूल की जाती है और हम जैसे हैं उसके लिए मनोविज्ञानीय व्याख्या का बहाना किया जाता है। क्योंकि कुछ स्वाभाविक मनोभावों का दमन करने से मानसिक अस्वस्थता पैदा हो जाती है इसलिए कभी कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि हमें अपने मनोभाव को कभी नहीं दबाना चाहिए और जहाँ तक समाज और विधान अनुमति देता है वहाँ तक जीवन अपने मनोभावों के अनुकूल ही बिताना चाहिए। इस मत के कुछ विनाशक परिणामों का वर्णन चौथे अध्याय में किया गया है। यहाँ एक स्वयंसिद्ध सत्य के नाते, जिसके बिना कोई वास्तविक नैतिक वाद विवाद नहीं हो सकता, इतना ही कह देना काफी है कि मानवी आचरण के तथ्य आवश्यक होते हुए भी नैतिक वरण पर दबाव नहीं डालते। सब से बड़ा तथ्य यह है कि मानवी विवेक और प्रयत्न से नवीन तथ्य पैदा हो सकते हैं हम अनेक संभावनाओं में से भविष्य में किसे वास्तविक बनाना चाहते हैं। इस पर विचार करना ही नैतिक समस्या का स्वभाव है।

मानवी आचरण के बारे में मनोविज्ञान को कुछ भी बताता है वह रोचक और महत्वपूर्ण होते हुए भी काफी नहीं है। अन्तर्प्रेरणात्मक (impulsive) जीवन के तत्वों का विभिन्न सीमाओं के अन्दर बोध हो सकना मनोविज्ञान से परे हैं। अन्तर्प्रेरणा जब चेतन बन जाती है तो वह विज्ञानीय भाषा में अनूदित हो सकने वाला तथ्य नहीं रहती। उसके बारे में पूर्व सूचना नहीं मिल सकती। रसायन वेत्ता का ज्ञान किसी रासायनिक पदार्थ का स्वभाव नहीं बदल सकता। किंतु जब मनोवैज्ञानिक को अपने अवचेतन मन की दबी बात का पता चल जाता है तो इससे उसकी स्थिति पर असर पड़ सकता है। दबी हुई बात का पता चल जाने से उसकी शख्सियत बदल जाती है। दबी बात अब आगे किस तरह से अभिव्यक्त

होगी ? जो मनुष्य अपने आचरण के आधार पर ही विचार करता है उसके विषय में क्या कहा जा सकता है !

> दरियाई घोड़ा क्या है इसे हम अच्छी तरह से जानते हैं क्योंकि हम उस पर अपनी कल्पना का आरोप नहीं करते। अतएव दरियाई घोड़ा एक निश्चित चीज़ के अलावा और कुछ नहीं होता। किंतु जब हम यह पूछते हैं कि कोई मनुष्य क्या है तो हम यह देखते हैं (यदि नैतिक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग किया जाय) कि वह निश्चित चीज़ कभी नहीं होता।
>
> मैं इस बात को यों कह सकता हूँ कि दरियाई घोड़े की अपेक्षा मनुष्य किसी हद तक यह जानता है कि वह क्या है; मनुष्य का अपने आप को जान सकना मनोविज्ञान के अध्ययन का आवश्यक अंग होना चाहिए। क झूठा है; इसमें इतना और जोड़ दीजिए कि क जानता है कि वह झूठा है। अब क क्या है ? वह झूठा व्यक्ति क्या है जो यह जानता है कि वह झूठा है ? जब वह यह जान लेता है कि वह झूठा है तो उसके बारे में क्या कहा जा सकता है ? इस बात को कोई नहीं जानता, विज्ञानीय मनोवैज्ञानिक भी नहीं। और यही नैतिक तथ्य है, यह तथ्य की आवश्यकताओं के एकदम अनुकूल न होने वाला एक अनिश्चित सा तथ्य है।[1]

एक साथ ही तथ्य और मूल्य की अभिव्यक्ति दोनों ही होने से नैतिक तथ्य "एक अनिश्चित सा तथ्य" होता है। विज्ञानीय मनोवैज्ञानिक तथ्य के मूल्य के पहलू की ओर नहीं देखता और वह जिस तथ्य का वर्णन करता है वह अनुभव किए गए नैतिक तथ्य का अनुचयन (abstraction) होता है। यदि हम किसी उपन्यास और मनोविज्ञान की किसी पुस्तक में दिए गए किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व (personality) का तुलनात्मक

---

१ वार्नर फाइट, मॉरल फिलासफी, पृ० २१ (डायल प्रेस)

अध्ययन करें तो हमें यह पता चल जायगा कि विज्ञानीय मनोविज्ञान वास्तविक जीवित अनुभव से कितनी दूर है। उपन्यासकार मानव जीवन की अवश्यम्भावी गुत्थियों का अनुभव कर उन्हें कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करने का कौशल जानता है। लोग जिस लक्ष्य को पाने के लिए बढ़ रहे हैं उसमें भी ऐसी ही गुत्थियाँ होती हैं। मनोविज्ञान के सैद्धान्तिक वर्णन और यथातथ अनुभव की स्मृति में आकाश पाताल का अन्तर होता है।

"हम मनोविज्ञान से उस निपुणता की आशा करते हैं जब हम आदेशानुसार किसी व्यक्ति को जन्म से ही सामाजिक या असामाजिक प्राणी बना सकेंगे"।[1] यह मनोविज्ञान का दावा है और यहाँ नैतिक सापेक्षवाद अपनी भयंकर सीमा तक पहुँच गया है। किसी को आश्चर्य हो सकता है कि ऐसा किसके आदेश पर किया जा सकता है? आचरणवादी (behaviourists) मानवी चरित्र को बदलने की इस प्रविधि का पता चलाकर किसी स्वार्थपूर्ण असामाजिक षड्यन्त्र की सेवा कर रहे हैं या सृजनात्मक और सहयोगात्मक सामाजिक जीवन की। मनोवैज्ञानिक मनुष्यों का पुनरानुयोग (reconditioning) कैसे करना चाहिए इस प्रश्न की या तो उपेक्षा करते हैं या उस पर पूर्वनिर्णय दे देते हैं। हम मनुष्यों को स्वतंत्र और उत्तरदायी बनाना चाहते हैं या शक्तिशाली लोगों के स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए स्वतः परिचालित मशीन मात्र? यहाँ हम मनोविज्ञान के क्षेत्र से निकलकर नैतिक मूल्यांकन के क्षेत्र में आ जाते हैं। और नैतिक प्रश्नों से बचा नहीं जा सकता चाहे वे किसी युग में कितने ही कठिन क्यों न रहे हों।

भाषार्थ का विचार

नैतिक सापेक्षवाद के पक्ष में सबसे प्रबल युक्ति भाषार्थ विश्लेषकों द्वारा दी गई है जिन्हें तर्कपरक भाववादी (logical positivists) नाम

---

१ जॉन बी० वॉटसन, दि वेज़ आव् बिहेवियरिज़्म

से सम्बोधित किया जाता है। तर्कपरक भाववाद में भाषा के अर्थ और प्रतीकों और अर्थ सत्य और असत्य से किस तरह सम्बन्धित होता है इस पर विचार किया जाता है। तर्कपरक भाववादियों के अनुसार सच और झूठ का प्रश्न यथातथ बातों के बारे में ही उठाया जा सकता है।' क्योंकि यथातथ बातों का ही सार्वजनिक परीक्षण हो सकता है। चूँकि नैतिक निर्णय वास्तविक अर्थ पर बिल्कुल निर्भर नहीं होता इसलिए भाववादियों के तर्क के अनुसार उसमें सच या झूठ की कोई बात नहीं होती। एल्फ्रेड आयर का कहना है कि "तुमने रुपया चुराकर अनुचित काम किया" इस वाक्य में केवल यही साधारण बात कही गई है कि "तुमने रुपया चुराया;" इस वाक्य से कहने वाले की नैतिक असहमति ही पता चलती है—मानो किसी ने विचित्र भयभीत स्वर में यह कहा हो कि "तुमने रुपया चुराया!"

आयर के मत का अभिप्राय यह है कि वास्तव में नैतिक प्रश्न होते ही नहीं। नैतिक प्रश्न तब उत्पन्न होता है जब हमें दो वैकल्पिक प्रस्तावनाओं (propositions) में निर्णय करना पड़ता है जो या तो एक दूसरे का विरोध करते हैं या उनमें विरोधी बातें निहित होती हैं। क कहता है "तुमने रुपया चुराकर अनुचित काम किया;" ब कहता है "मैंने रुपया चुरा कर अनुचित काम नहीं किया क्योंकि मुझे उस रुपये की अधिक जरूरत थी;" स्पष्ट है कि क और ब दोनों विरोधी बातें कह रहे हैं। या "रुपया चुराना तो अनुचित है" इस बात को एक तो स्वीकार करता है और दूसरा उससे इनकार करता है, क उसे सत्य मानता है और ब झूठ। क और ब दोनों के सामने एक वास्तविक प्रश्न है; वे दोनों नैतिक सत्य को मानते हैं किन्तु वह नैतिक सत्य है क्या? इसमें उनमें मतभेद है। अब एक तीसरे व्यक्ति स के लिये न्यायोचित ढंग से यह कह सकना सम्भव है : "रुपया चुराना उचित या अनुचित दोनों नहीं है क्योंकि उचित और अनुचित का कोई अर्थ नहीं है; उचित और अनुचित व्यक्ति की विभिन्न अभिरुचियों की सहमति या असहमति ही हैं।" यह युक्ति चातुर्य किसी भी बात में दिखाया जा सकता है। यदि दो वैज्ञानिक किसी वस्तु की सत्ता के

विषय में वाद विवाद कर रहें हो तो एक अतिशय सन्देहवादी उनकी सत्ता में ही सन्देह करके उनके वाद विवाद का खण्डन कर सकता है। आत्म विरोधी न होने से सन्देहवादी का तर्क मान्य न होते हुए भी युक्तिसंगत होगा। जिस तरह किसी वस्तु की सत्ता में विश्वास किए बिना वैज्ञानिक कोई बातचीत नहीं कर सकते उसी तरह उचित और अनुचित, श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर बातों की सत्ता को माने बिना नैतिक वाद-विवाद नहीं हो सकता।

आयर का कहना है कि 'रुपया चुराना अनुचित है' और 'सहिष्णुता एक गुण है' इन दोनों वाक्यों में हम एक से अपनी सहमति और दूसरे से असहमति ही प्रकट करते हैं। निस्सन्देह उपर्युक्त वाक्यों में हम अपनी इन्हीं नैतिक भावनाओं को प्रकट करते हैं; और यदि नहीं करते हैं तो हम ईमानदारी नहीं करते। हरेक कथन में कहने वाले की प्रवृत्ति जरूर होती है, चाहे वह सही हो या ग़लत। कोई बात उसके कहने वाले व्यक्ति से अलग अपनी योग्यता पर भी परखी जा सकती है और यही खोज का ठीक तरीका है। किंतु उसी बात को उसके कहने वाले व्यक्ति की सहमति या असहमति के सम्बन्ध में भी परखा जा सकता है। यह किसी बात को उसकी अपनी योग्यता के अनुसार या उसके कहने वाले व्यक्ति की अभिरुचि के सम्बन्ध में देखने का भेद है। जब किसी बात को व्यक्ति की अभिरुचि के अनुसार देखना ठीक न हो तो भी उसे व्यक्ति की अभिरुचि के अनुसार देखना ग़लती करना है।

निस्सन्देह कुछ प्रश्नों पर उनकी अपनी योग्यता के अनुसार विचार नहीं किया जा सकता। उन प्रश्नों पर कोई व्यक्ति अपना स्वतंत्र वरण या निर्णय भी नहीं कर सकता। विज्ञानीय मामलों की अपेक्षा व्यक्ति को नैतिक मामलों में अधिक स्वतन्त्रता रहती है। किसी क्षेत्र में कोई विवाद पर एक ओर तो व्यक्ति से हटकर प्रमाण दिया जा सकता है और दूसरी ओर व्यक्ति की अभिरुचि का भी काफी हाथ होता है किन्तु यह सापेक्षिक प्रबलता अलग-अलग प्रश्नों में विभिन्न हो सकती है। 'सहिष्णुता अच्छी बात है'

इस नैतिक निर्णय में मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं का बड़ा हाथ हो सकता है, विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त में नहीं। किन्तु चूँकि मनुष्य अपनी अभिरुचि के बारे में भी प्रश्न उठाता है और उनकी आलोचना करता है इसलिए उसकी अभिरुचि को अकाट्य नहीं माना जा सकता; वह "मेरी अभिरुचियाँ क्या हैं?" इसके अतिरिक्त "मेरी अभिरुचियों को क्या होना चाहिए?" यह भी पूछता है। ये दोनों प्रश्न अन्तराश्रित हैं, दूसरा प्रश्न पहले प्रश्न से ही पैदा होता है; किन्तु यदि पहले प्रश्न के साथ दूसरा न हो तो हमारी उन्नति और विकास रुक जायगा।

अधिक विश्लेषण करने पर यह भी पता चलता है कि तर्कपरक भाववादी (logical positivist) का कथन आत्म विरोधी होता है। उसके अनुसार वही बात सत्य या असत्य होती है जिसकी अनुभव में परीक्षा की जा सकती है। इस कसौटी पर तर्कपरक भाववादी का कथन कि "केवल यथातथ बात ही सत्य या असत्य हो सकती है" भी खरा नहीं उतरता। उसके इस कथन में कोई यथातथ बात न होकर केवल एक मान्यता ही है। तर्कपरक भाववादी अनुभव में अपनी इस मान्यता की परीक्षा नहीं कर सकता। "केवल यथातथ बात ही सत्य या असत्य हो सकती है" यह कथन अपना अपवाद स्वयं है और इसलिए वह सार्वभौम नहीं हो सकता। इस विरोध से बचने के लिए तर्कपरक भाववादी प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी की प्रस्तावनाओं (propositions) में भेद करते हैं। जो प्रस्तावना किसी अन्य प्रस्तावना की अपेक्षा करती है वह द्वितीय श्रेणी की होती है और द्वितीय श्रेणी की प्रस्तावना अपनी अपेक्षा न कर केवल प्रथम श्रेणी की प्रस्तावनाओं की अपेक्षा ही कर सकती है। यह विरोध से बचने के लिए एक अन्य (तृतीय श्रेणी की) प्रस्तावना है। इससे वास्तविक समस्या का समाधान नहीं होता। वास्तविक समस्या तो अनुभव द्वारा 'केवल यथातथ बातों के सत्य या असत्य हो सकने की' परीक्षा की है जिसे तर्कपरक भाववादी स्वीकार भर कर लेता है किंतु सिद्ध नहीं करता।

नैतिक तटस्थतावाद (Moral Indifferentism)

अतिशय नैतिक सापेक्षवाद से सबसे बड़ा खतरा यह है कि उससे नैतिक तटस्थता और गैरजिम्मेदारी की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है। नैतिक वाद-विवाद में सबसे ख़तरनाक अर्धसत्य यह कहना है कि "यह तो अपना अपना दृष्टिकोण है।" इससे कौन इनकार कर सकता है कि नैतिक निर्णय अपने अपने दृष्टिकोण से नहीं किए जाते : यदि नहीं किए जाते तो उनका कोई मूल्य नहीं। किंतु "यह आपका दृष्टिकोण" है इस कथन में इस कथन के अलावा और बहुत कुछ भी कहा गया है। इसमें यह भी कहा गया है कि हमारे दृष्टिकोण के अलावा और दृष्टिकोण भी हैं और हमारा दृष्टिकोण उनमें से एक है; कट्टरता और असहिष्णुता से बच सकने के लिए इस कथन का बड़ा नैतिक महत्व है। अपने विपरीत पड़ने वाले दूसरों के दृष्टिकोणों के अनुसार उनके कामों का मूल्य और औचित्य जानना शिक्षित व्यक्ति की विशेषता है।

किंतु जो लोग नैतिकता को अपने अपने दृष्टिकोण पर ही निर्भर बताते हैं उनका अभिप्राय कुछ और ही होता है। उनका तात्पर्य यह होता है कि चूँकि विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना व्यक्ति से हटकर नहीं की जा सकती इसलिए नैतिक दृष्टि से किसी दृष्टिकोण में खास भेद नहीं होता। उनका तात्पर्य शायद यह भी होता है कि दृष्टिकोण एक निश्चित चीज़ होती है अतएव जड़ पदार्थों की तरह उसका भी वर्गीकरण किया जा सकता है और उसकी विशेषताएँ बताई जा सकती हैं। ये दोनों मान्यताएँ पहले अध्याय के निष्कर्षों का विरोध करती हैं। उन निष्कर्षों के बिना किसी नैतिक विवेक में संगति या एकरूपता नहीं हो सकती। कुछ दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोणों की अपेक्षा श्रेयस्कर होते हैं और उनका श्रेयस्कर होना विकसित नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है। ये बातें नैतिक खोज का आदि-बिन्दु हैं।

यह नहीं भूलना चाहिए कि सहिष्णुता दो तरह की होती है। कुछ सहिष्णु लोग मूल्यों के प्रति तटस्थ होते हैं। अन्य लोग इस माने में

सहिष्णु होते हैं कि वे अपने मूल्यों को रखते हुए भी उनके प्रचार के लिए कटु साधनों का इस्तेमाल नहीं करते। पहली तरह की सहिष्णुता में नैतिक वरण नहीं हो सकता और अपने प्रति सहिष्णु होना पाप से सन्धि करना है। दूसरी तरह की सहिष्णुता में अपनी नैतिकता का उत्तरदायित्व माना जाता है किंतु दूसरों का नहीं। दूसरों के प्रति उदार रहो किंतु अपने प्रति कठोर : यह नियम हमें अपने उत्तरदायित्व की याद दिलाता है।

३—कामचलाऊ विचार-प्रणाली की ओर

नैतिक निरपेक्षवाद और नैतिक सापेक्षवाद एकपक्षीय होने से नैतिक खोज में भलीभाँति सहायक नहीं होते। इस पुस्तक में प्रस्तुत दृष्टिकोण को आलोचनात्मक विषयसापेक्षवाद (Critical objectivism) कहा जा सकता है। रीति रिवाज, मनोभाव और स्वार्थ की विभिन्नताओं से परे नैतिक मापदण्डों की सत्ता मानने से प्रस्तुत पुस्तक का दृष्टिकोण विषयसापेक्षी है; हर जगह के नैतिक नियमों को उस जगह के इतिहास का परिणाम मानने से यह दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। मानव द्वारा बनाए गए नैतिक नियमों से नैतिक श्रेय और हित के अधिक निकट तक ही पहुँचा जा सकता है। हम प्रजातंत्र को अपूर्ण मानते हुए भी तानाशाही से अच्छा समझते हैं। हम जानते हैं कि सच्चाई और उदारता अच्छी चीज़ है किंतु साथ-साथ यह भी जानते हैं कि उनका पालन पूरी तौर से नहीं किया जा सकता। नैतिक निर्णय एक ओर बहुत गम्भीर और आवश्यक हैं और मानवी जीवन के योग्यतम मापदण्डों की खोज विचारशील व्यक्ति का सब से महत्त्वपूर्ण काम है। नैतिक निर्णय दूसरी ओर बहुत ही व्यक्तिगत होते हैं। नैतिक निर्णय जब नैतिक विश्वासों की सच्ची अभिव्यक्ति होते हैं तो उनसे व्यक्ति विशेष का जीवन को देखने का ढंग पता चलता है। यद्यपि नीतिशास्त्र का अभिप्राय विषय-सापेक्ष (objective) है किंतु उसमें भौतिक विज्ञानों की भाँति यथार्थता और ध्रुवता नहीं हो सकती। अरस्तू कहता है :

हमारा (नैतिक) सोच विचार तभी ठीक हो सकता है जब हम विषय-सामग्री के अनुसार यथार्थता से सन्तुष्ट रहें। हरेक चिंतन में पूर्ण यथार्थता नहीं हो सकती। अच्छाई, न्याय आदि बातों में इतनी अनिश्चितता और असमानता है कि उनका कोई प्राकृतिक आधार न मानकर उन्हें केवल अभ्युपगम (Convention) मात्र ही माना जाता है। श्रेय में भी ऐसी ही असंगति है क्योंकि धन और उत्साह ने लोगों को नष्ट कर दिया है। अतएव हमें इन मामलों में सत्य के सामीप्य से ही सन्तोष होना चाहिए। हम श्रेय और हित को 'सामान्य नियम' समझते हैं अतएव उनसे प्राप्त निष्कर्षों को भी सामान्य होना चाहिए। हर दृष्टिकोण को हमें इसी भावना से स्वीकार करना चाहिए। शिक्षित व्यक्ति हर खोज में उतनी ही निश्चितता पाने की आशा करता है जितनी कि विषय-सामग्री की प्रकृति के अनुसार मिल सकती है।[1]

सुकरातीय प्रणाली (The Socratic Method)

अरस्तू के पूर्वगामी सुकरात ने नैतिक चिंतन का पहला आदर्श उपस्थित किया था जो पाश्चात्य जगत में आज तक सबसे अच्छा है। सुकरात व्यवस्थित निष्कर्षों पर नहीं पहुँचता था। वह अपने और दूसरों के विचारों को स्पष्ट कर अपने आप और दूसरों को गलत विचारों से बचाता था। उसका कहना था कि उसका काम दाई का काम था। वह विचार रूपी बच्चों को पैदा करने में दूसरों की सहायता करता था। सुकरातीय प्रणाली के एक उदाहरण से सही नैतिक चिंतन की आलोचनात्मक या निषेधात्मक (negative) विधि को समझा जा सकता है।

प्लेटो के संवाद यूथाइफ्रो (Euthyphro) में सुकरात को कचहरी

---

[1] **अरस्तू, दि नाइकोमेकियन एथिक्स; १, २, १-४**

जाता हुआ दिखाया गया है। रास्ते में सुकरात यूथाइफ्रो नामक युवक से मिलता है। यूथाइफ्रो के बाप के एक दास को किसी शराबी ने मार डाला था जिससे बाप ने शराबी के हाथ पैर बँधवा कर उसे एक गड्ढे में फिकवा दिया था और दण्ड देने के लिये एथेन्स से धार्मिक आदेश पाने की प्रतीक्षा कर रहा था। आदेश आने से पहले ही शराबी सर्दी-गर्मी के कारण मर गया था। यूथाइफ्रो इस क्रूर हत्या के लिए अपने बाप पर मुकदमा चलाना अपना कर्तव्य समझता था।

यूथाइफ्रो—मेरे पिता और सारे सम्बन्धी मुझसे बेहद नाराज हैं। वे कहते हैं कि बेटे का बाप पर मुकदमा चलाना अपवित्र काम है; जैसे कि वे जानते हैं कि अपवित्रता क्या है?

सुकरात—तुम जानते हो कि वह क्या है?

यूथाइफ्रो—उसको न जानना मेरी मूर्खता होगी।

सुकरात—मेरा सौभाग्य है कि तुमसे भेंट हो गई! मैं तुमसे इस बारे में कुछ जान सकूंगा क्योंकि अन्य बातों के अलावा मुझ पर भी पवित्रता का ही मुकदमा चलाया गया है। तुम पवित्रता और अपवित्रता किसे कहते हो?

यूथाइफ्रो—क्यों, मैं इस समय एक हत्यारे पर मुकदमा चला कर पवित्र काम ही तो कर रहा हूँ, चाहे वह हत्यारा कोई भी क्यों न हो, ऐसा न करना ही अपवित्रता है।

सुकरात—मुझे डर है मेरे दोस्त कि इतना तो काफी नहीं है। यह मानोगे कि तुम्हारे इस काम के अलावा भी पवित्र काम हैं?

यूथाइफ्रो—हाँ, क्यों नहीं।

सुकरात—पवित्र कामों में ऐसा समान गुण अवश्य होना चाहिये जिससे वे पवित्र कहलाते हैं। यदि ऐसा न हो तो पवित्रता का कोई अर्थ नहीं रहेगा। तुम मुझे पवित्रता का रूप और उस

विशिष्ट स्वभाव को बताओ जिससे कोई काम पवित्र कहलाता है। (१)

यूथाइफ्रो—यह तो बहुत आसान है। काम पवित्र तब होते हैं जब वे देवताओं को प्रिय हों, अपवित्र तब होते हैं जब न हों।

सुकरात—पर क्या देवताओं में इन मामलों पर पारस्परिक मतभेद नहीं होता? तुम्हारा काम उदाहरण के लिए जूस को प्रिय हो सकता है और हेरा को अप्रिय। तब वह एक ही साथ पवित्र और अपवित्र दोनों ही होगा। (२)

यूथाइफ्रो—जो भी हो लेकिन मैं यह समझता हूं कि एक हत्यारे का तिरस्कार और उस पर मुकदमा चलाने वाले का समर्थन सभी देवता करेंगे।

सुकरात—क्या इसी से तुम्हारा वर्तमान काम पवित्र हो जाता है?

यूथाइफ्रो—तुम्हारा मतलब क्या है?

सुकरात—मेरा मतलब यह है कि क्या देवताओं के समर्थन मात्र से ही कोई काम पवित्र हो जाता है? क्या हमें देवताओं के समर्थन का कारण नहीं जानना चाहिए? क्या वे किसी काम का समर्थन इसीलिए कर देते हैं कि वह पवित्र होता है? (३)

यूथाइफ्रो—शायद यही हो।

सुकरात—तब तुमने मुझे पवित्रता की मुख्यता के बारे में कुछ नहीं बताया। पवित्र काम देवताओं को प्रिय बताकर तुमने केवल उसकी आनुषंगिक (incidental) विशेषता ही बताई है। (४)

यूथाइफ्रो—यह इसलिए है कि तुम बातों को इधर से उधर घुमाते रहते हो। मैं जानता हूँ कि मेरा तात्पर्य क्या है किंतु मैं उसे कह नहीं सकता। (५)

सुकरात—अच्छा हमें दूसरी तरह से कोशिश करने दो। तुम इसे मानोगे कि पवित्र काम को उचित होना चाहिए किंतु क्या तुम उचित काम को भी पवित्र कहोगे ? क्या तुम यह नहीं कहोगे कि पवित्रता से अलग भी उचित कामों की मिसालें मिलती हैं और इसलिए पवित्रता उचित काम का ही एक अंश है ? (६)

यूथाइफ्रो—हाँ, यह तो मैं कहूँगा।

सुकरात—तो पवित्रता औचित्य का कौन सा अंश है ? उसका भेद करने वाली विशेषताएँ क्या हैं ? (७)

यूथाइफ्रो—मेरी राय में पवित्रता औचित्य का वह अंश है जिसका सम्बन्ध देवताओं के प्रति हमारी सेवाओं का है। उसके अवशिष्ट अंश का सम्बन्ध मनुष्यों के प्रति हमारी सेवाओं से है।

सुकरात—देवताओं की सेवा क्या है ? उनका सुधार करना ?

यूथाइफ्रो—नहीं तो।

सुकरात—तब क्या ? देवताओं की सेवा करने से क्या परिणाम होता है ?

यूथाइफ्रो—बहुत अच्छे परिणाम होते हैं, सुकरात।

सुकरात—निस्सन्देह। किसानों के काम के भी बहुत अच्छे परिणाम होते हैं किंतु उनके काम का मुख्य परिणाम धरती से अन्न उगाना है। इसी तरह से यह बताओ कि देवता हम से क्या करवाते हैं।

यूथाइफ्रो—मेरे ख्याल से उन्हें हमारी सेवाओं से सुख और सन्तोष मिलता है।

सुकरात—अब देखो कि तुम्हारी बातचीत में कितनी पुनरुक्ति है। तुम पवित्रता की व्याख्या फिर देवताओं के सन्तोष से कर रहे हो। इस परिभाषा को हमने पहले ही अस्वीकृत कर

दिया था। देवताओं का सन्तोष पवित्रता का अनुषंग है, उसका मूल रूप नहीं। (८)

इस वार्तालाप में सुकरात नैतिक विचार प्रणाली की अनेक आवश्यक बातों को सामने लाता है। वे आठ हैं: (१) जब किसी शब्द का सामान्य प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ भी सामान्य होता है या 'रूप' (Form) का निर्देश करता है। स्पष्ट नैतिक चिंतन के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके 'रूप' की परिभाषा कर देनी चाहिए। किसी शब्द के कुछ ऐसे उदाहरणों को दे देना, जिन पर वह लागू होता है, पर्याप्त नहीं है। यूथाइफ्रो यही करता है: हमें यह पता नहीं चल पाता कि वे उदाहरण किस प्रकार से समान हैं। (२) यूथाइफ्रो एक यथातथ बात के आधार पर 'पवित्रता' की परिभाषा देने की चेष्टा करता है। किंतु यथातथ बात के आधार पर नैतिक धारणा की परिभाषा करना गलत है। यथातथ बातें दो अर्थवाली होती हैं और उनसे किसी भी नैतिक मापदंड की पुष्टि की जा सकती है। उनसे किसी काम को पवित्र और अपवित्र दोनों ही ठहराया जा सकता है। (३) यदि देवताओं को प्रिय होना ही किसी काम के उचित होने का मापदंड है तो यह इसलिए है कि देवताओं को अच्छा मान लिया जाता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि देवता अच्छे काम के अलावा और किसी काम से सन्तुष्ट नहीं होते। अतएव (४) किसी काम की अच्छाई देवताओं के सन्तोष से अधिक आवश्यक हो जाती है। (५) अब यूथाइफ्रो को यह पता चलता है कि वह जो कुछ कह रहा है उसके बारे में वह स्पष्ट नहीं है क्योंकि वह अब तक निरर्थक शब्द जाल में ही पड़ा हुआ था। सुकरात उसको एक नई दिशा दिखाता है: (६) पवित्रता की परिभाषा के लिए सबसे पहले पवित्रता जाति (genus) का पता लगाना आवश्यक है जो "औचित्य" है। शब्द और जाति का सम्बन्ध असमान होता है: पवित्र काम उचित जरूर होगा किंतु उचित काम पवित्र नहीं भी हो सकता है। जाति के अलावा परिभाषा में (७) शब्द की विशेषता भी होनी चाहिए। किंतु (८) यूथाइफ्रो विशेषता

की जगह देवताओं को प्रिय होने की ही बात करता है जिसे पहले ही अस्वीकृत किया जा चुका था। अतएव उसकी युक्ति में चक्रक दोष है।

अपने पहले की निश्चितता के होते हुए भी और अपने काम को नैतिक समझते हुए भी यूथाइफ्रो को अपनी बात का कोई स्पष्ट प्रत्यय नहीं था। सुकरात के अनुसार भ्रामक और अस्पष्ट बातों से छुटकारा पाना ही दार्शनिक खोज का पहला कदम है। "क्या मेरी बात सही है?" इसके पहले यह प्रश्न उठाना चाहिए कि "क्या मैं जानता हूँ कि मेरा अभिप्राय क्या है?" एक उलझी हुई बात न तो स्पष्ट रूप से सत्य ही होती है और न असत्य।

द्वंद्वात्मक तर्क (Dialectics)

वाद विवाद के विषय के अर्थ को जानने की प्रविधि द्वंद्वात्मक तर्क कहलाती है। अनुभव निरपेक्ष निगमनात्मक प्रणाली और वर्णनात्मक आगमन प्रणाली के विपरीत द्वंद्वात्मक तर्क बातों को स्पष्ट करता है। यद्यपि द्वंद्वात्मक तर्क में निगमन और आगमन (inductive and deductive) प्रविधि को आनुषंगिक तौर से प्रयुक्त किया जाता है किंतु बात की सत्यता जानने के लिए उनमें से किसी का आश्रय नहीं लिया जाता। निगमन और आगमन प्रणाली के विपरीत द्वंद्वात्मक तर्क में जटिल, सीमित और अस्पष्ट स्थिति से सापेक्षतः स्पष्ट और सुबोध स्थिति की ओर जाया जाता है।

द्वंद्वात्मक तर्क में बात चीत द्वारा सत्य को खोजने की कोशिश की जाती है। अतएव द्वंद्वात्मक तर्क प्रधानतः सामाजिक है और उसमें दो या दो से अधिक भाग लेने वाले होते हैं। मनसवार्तालाप में भी दो पक्ष होते हैं। जब हम मन ही मन में किसी बात को सोचते हैं तो लगता है मानो हमारे भीतर दो व्यक्ति बातचीत कर रहे हों। द्वंद्वात्मक तर्क का एक पहलू दो विरोधी दृष्टिकोणों में सहमति ढूँढ़ना है। हम अपने मन में साधन के बारे में भेद रख सकते हैं किंतु शायद साध्य के बारे में नहीं।

चूँकि द्वंद्वात्मक तर्क का मुख्य उद्देश्य सहमति न ढूँढकर स्पष्टीकरण

करना और शंका समाधान न कर सत्य को पाना ही है इसलिए ऐसी बहुत सी स्थितियाँ हो सकती हैं जहाँ द्वंदात्मक तर्क से असहमति ही बढ़े। या उससे किसी ऐसी असहमति का पता चल सकता है जिसकी शंका तक न हो; जैसे प्रजातंत्रीय स्वतन्त्रता के प्रेमी दो व्यक्तियों में से एक तो स्वतंत्रता इसलिए चाहता हो जिससे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग बिना किसी सरकारी अंकुश के अपनी पूँजी व्यापार में लगा सकें और दूसरा इसलिए चाहता हो जिससे ग़रीब लोग उस आर्थिक प्रतियोगिता में पिसने से बच सकें। ऐसी स्थिति में द्वंदात्मक तर्क का पहला काम 'स्वतन्त्रता' के अर्थ को स्पष्ट करना है। असहमति का कारण जानने से ही सहमति पर नहीं आया जा सकता। वाद-विवाद में जब तक अपने अर्थ को हर स्तर पर स्पष्ट करने की चेष्टा न की जाय तब तक कोई सही सहमति नहीं हो सकती।

अगले अध्यायों की कार्यविधि

किंतु तो भी यह कहा जा सकता है कि निषेधात्मक तरीका आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। प्रत्ययों के स्पष्ट हो जाने पर भी हम उनके सत्य होने को नहीं जान सकते। नीतिशास्त्र उनकी सत्यता जान सकने का कौन सा तरीका बताता है? इस प्रश्न का सही उत्तर देने के लिए सत्य के स्वभाव की खोज करना ज़रूरी है। इस दिशा की ओर पहले कदम को १० वें अध्याय में बताया जायगा। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि अगले पाँच अध्यायों में कुछ प्रमुख नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा। हमारा उद्देश्य उन सिद्धान्तों में से किसी एक को स्वीकार कर लेना नहीं होगा वरन् सुकरातीय आदर्शानुसार उनकी तार्किक और नैतिक सीमाओं के अन्दर उनमें भावात्मक सत्य-मूल्यों को देखना होगा।

उन हरेक सिद्धान्तों में परम मूलभूत हित क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। मूलभूत और नैमित्तिक हित के भेद को पहले ही देखा जा चुका है। इस भेद से स्वतंत्र कुछ हितों को अन्य हितों से उत्तम माना जा चुका है। कोई हित दूसरे से तभी श्रेष्ठ होता है

जब वरण की आवश्यकता आने पर उसे बुद्धिमूलक रूप से पसन्द किया जाता है। हेय हित वे होते हैं जिनका तिरस्कार कर श्रेष्ठ हित की ओर बढ़ा जाता है। शराब पीना शराबियों के लिए मूलभूत हित होते हुए भी वचन निभाने से हेय है। इसलिए ऐसे अवसरों पर जबकि दोनों में असंगति हो तो शराब को छोड़ देना कर्तव्य हो जाता है।

परम हित क्या है? इस प्रश्न की व्याख्या यों की जा सकती है : क्या कोई ऐसा भी हित है जिसके लिए हम हरेक अवसर पर अन्य हितों को छोड़ सकते हैं? अरस्तू ने ऐसे परम हित को 'आत्मा की स्वस्थता' बताया था। किंतु हरेक व्यक्ति इसका अर्थ अलग अलग लगाएगा : कुछ लोग इसका अर्थ सुखानुभूति, कुछ लोग राजनीतिक, सैनिक या व्यापारिक सफलता और अन्य लोग (अरस्तू स्वयं) दार्शनिक चिंतन और मनन समझेंगे। सब लोग किसी एक हित को परम नहीं मान सकते जब तक कि उस हित को (अरस्तू के 'आत्मा की स्वस्थता' की भाँति) विस्तृत अर्थ न दिया जाय या उसका इतना अस्पष्ट अर्थ दिया जाय (जैसे उपयोगितावादियों का 'सुख') जो भ्रामक हो। कोई व्यक्ति किसी विशेष हित को अपने आधार के लिए सर्वोत्तम मान सकता है। नैतिक आदर्श को एकरूपता के साथ निभाने वाले लोग कम ही हैं, किंतु हर व्यक्ति की प्रधान नैतिक प्रवृत्ति एक दिशा की ओर ही होती है।

अगले पाँच अध्यायों में मनुष्यों में पाई जाने वाली इन्हीं प्रधान नैतिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। उनमें से हरेक में कुछ न कुछ सत्य है, किंतु वही पूर्ण सत्य नहीं है। अतएव आलोचनात्मक पाठक को उनमें से किसी एक को पूर्णरूप से स्वीकार या अस्वीकार नहीं करना चाहिए। उसे अपना निर्णय इस बात से करना चाहिए कि वे सिद्धान्त मानवी अनुभव की व्याख्या किस तरह करते हैं और उनके आदर्श की क्या महत्ता है।

३

सुख का अनुसरण

जो नैतिक दर्शन मनुष्य का परम हित सुख का अत्यधिक उपभोग करने में मानता है उसे सुखवाद (hedonism) कहते हैं। 'सुख' शब्द की अस्पष्टता के कारण जिन विचारकों ने सुखवाद का प्रतिपादन किया है उनके सिद्धान्तों में बहुत कम समानता है। किन्तु इस विभिन्नता के होते हुए भी उनके अर्थों में एकसूत्रता है। सुख, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, एक अनुभूति है; अतएव सारा सुखवाद नैतिक मूल्य को अनुभूति में ही मानता है। हमारा काम, इरादा और नीयत नैतिक दृष्टि से वहीं तक श्रेयस्कर है जहाँ तक उससे एक विशेष प्रकार की अनुभूति पैदा होती है और उसकी विरोधी अनुभूति नष्ट होती है। यदि हमारे कामों का हमारी अनुभूति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो वे नैतिक दृष्टि से तटस्थ होते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल को छोड़कर और सब सुखवादी मूल्यों को मात्रात्मक (quantitative) भी मानते हैं। उनके अनुसार सुख और दुख में कम और ज्यादा का सम्बन्ध है। उनकी किसी काम की नैतिक मूल्य की परख यह है कि वह कितना अधिक सुख और कितना कम दुख पैदा करता है। इन दो बातों के अलावा सुखवाद के सिद्धान्तों में बहुत विभिन्नता है। सबसे प्रमुख विभिन्नता इस प्रश्न पर है कि नैतिक मूल्य को निर्धारित करने वाले सुखों और दुखों की अनुभूति कौन करता है। स्वहित सुखवादी (egoistic hedonist) अपने दुख सुख की ही चिंता करता है और शायद उन लोगों के सुख दुख की भी चिंता करता हो जिनकी भावनाओं का उस पर असर पड़ता हो। सार्वभौम सुखवाद (Universalistic hedonism), या उपयो-

गितावाद (Utilitarianism) दो बराबर मात्रा वाले सुखों और दुखों का मूल्य बराबर मानता है चाहे उनकी अनुभूति किसी को भी क्यों न हो।

स्वहितवादी सुखवाद (Egoistic Hedonism)

स्वहितवाद (egoism) व्यक्ति के अपने हित को ही श्रेयस्कर और उसके लाभ के लिए किए गए काम को ही महत्वपूर्ण समझता है। स्वहितवाद के अनुसार यदि दूसरों के हित हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालते तो हमें उनसे कोई मतलब नहीं है और उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है। कभी कभी समाज या दूसरे लोगों के हित में ही हमारा हित होता है। किन्तु अनेक अवसरों पर हमारे और उनके हितों में विरोध होता है और यद्यपि कभी कभी समझौता किया जा सकता है तथापि पारस्परिक हितों को चोट पहुँचाए बिना कोई समझौता नहीं हो पाता; इसे चाहे तो मानवो बुद्धि की दुर्बलता कहिए चाहे विकार। स्वहितवादी के अनुसार हमारा कर्तव्य अपने ही प्रति है चाहे उससे दूसरों को कितनी ही क्षति क्यों न हो; और यदि स्वहितवादी सुखवादी हो तो वह अपने इस कर्तव्य की परिभाषा सुख के अनुसार करता है।

मानवी मनोवृत्ति के साथ अत्यधिक सुख देने वाले काम, वस्तुएँ और स्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। कुछ लोगों के लिए सुख अत्यधिक उपभोग में ही होता है और कुछ लोगों के लिए कष्ट और दुख से बचने में। पहले लोगों के लिए सुख का अर्थ उत्तेजना है, दूसरे लोगों के लिए सुख मानसिक शांति में है। यह भेद नीति शास्त्र के इतिहास में दो यूनानी दार्शनिकों एरिस्टीपस (४३५-३५० ई० पूर्व) और एपीक्यूरस (३४१-२७० ई० पूर्व) के समय से चला आ रहा है। एरिस्टीपस एक विचित्र सुखासक्ती था। इतिहासकार डायोजिनीज़ का कहना है कि "एरिस्टीपस अपने को हर देश, काल, व्यक्ति के अनुसार बना लेता था और अपने अभिनय को हर परिस्थिति में खूब निभाता था......वह वर्तमान वस्तुओं से सुख पाता था और भविष्य की चिंता नहीं करता था।" वह भोग विलास के लिए चापलूसी तक करने से नहीं चूकता

था। एक बार वह सैराक्यूज़ के राजा डायोनीसियस के दरबार में अतिथि होकर गया। वहाँ राजा की कृपा चाहने के लिए भद्दे तरीके से साष्टांग दण्डवत् करने के लिए जब उसे धिक्कारा गया तो उसने शांतिपूर्वक जवाब दिया, "इसमें मेरा नहीं डायोनीसियस का ही दोष है क्योंकि उसके कान उसके पैर में हैं।" वह साइरीन नगर में रहता था इसलिए उसके सुखवादी जीवन-दर्शन को साइरीनवाद (Cyrenaicism) कहा जाता है। उसके सिद्धान्त की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं : (१) हमारा उद्देश्य एक सामान्य सुखमय जीवन न होकर अत्यधिक सुखों को पा सकना ही होना चाहिए; (२) तीव्रतम सुख ही श्रेयस्कर हैं और उनको दुख और अपमान सहकर भी पाना चाहिए। सुख और दुख के उद्दीपन से रहित जीवन स्वप्न रहित नींद की भाँति ही फीका है; (३) सुख तभी अच्छी तरह प्राप्त हो सकते हैं जब किसी में स्थिति पर पूरा काबू पाने का साहस और बुद्धि हो। अन्तिम बात की गूढ़ अभिव्यक्ति एरिस्टीपस द्वारा अपनी सुन्दर प्रेमिका के सम्बन्ध में कही गई इस उक्ति में मिलती है, "उस पर मेरा अधिकार है, मैं उससे अधिकृत नहीं हूँ।"

इसी तरह का सिद्धान्त एथेन्स के एक कैलीक्लीज़ नामक व्यक्ति में मिलता है। प्लेटो ने उसको यों कहते हुए उद्धृत किया है : "उचित तरह से रहने के लिए मनुष्य को अपनी इच्छाएँ जहाँ तक सम्भव हो खूब बढ़ा लेनी चाहिए और उनको रोकना नहीं चाहिए। जब वे अपनी ऊँचाई पर हों तो उसमें उनको पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर सकने का साहस और बुद्धि होनी चाहिए और जब कभी कोई नई इच्छा पैदा हो तो उसे भी सन्तुष्ट करना चाहिए।" उसके अनुसार सुखी जीवन इच्छाओं को शांत करने से नहीं मिलता वरन् अत्यधिक सुखमय अनुभूति से मिलता है।[1]

एपीक्यूरस डर, दुख और इच्छाओं से स्वतंत्र होने पर मिलने वाले

---

[1] प्लेटो, गॉर्जियाज़, ४९१, ४९२, ४९४।

मनः प्रसाद को मनुष्य का परम हित मानता है। उसके दर्शन को एपीक्यूरसवाद कहते हैं किंतु इस शब्द का बहुत कुप्रयोग किया गया है और उसे जीवन के किसी भी सुखवादी आदर्श पर लागू कर दिया जाता है। एपीक्यूरस को सुखवादी मानना चाहिए क्योंकि उसके अनुसार "हरेक सुख स्वाभाविक होने से हमारे लिए श्रेयस्कर है।" एपीक्यूरस सुखों को बुरा नहीं मानता किंतु वह उनमें भेद करता है। सब सुखों की लालसा ठीक नहीं है क्योंकि "कुछ सुखों को उत्पन्न करने वाले साधन उन सुखों से कई गुना ज्यादा दुख ही लाते हैं।" अत्यधिक भोग विलास और हर प्रकार के सुख के उपभोग से मानसिक थकान और रोग हो जाते हैं। एपीक्यूरस कहता है कि हमें साधारण भोजन करना चाहिए। साधारण भोजन से स्वास्थ्य अच्छा रहता है और सुखों की अनुभूति टिकाऊ बनी रहती है।

> सुखी जीवन भोग विलास, आमोद-प्रमोद, खाने-पीने से ही नहीं मिलता वरन् गम्भीर चिंतन, वरण करने के उद्देश्यों को ढूँढ़ने आदि से मिलता है।[1]

एपीक्यूरसीय दर्शन का लक्ष्य सम्मतियों पर ध्यान न देकर वरण करने के सही उद्देश्यों को खोजना ही है और एपीक्यूरस के लिए अच्छा आदमी दार्शनिक ही बन सकता है। दर्शन अपने आप में अच्छा नहीं है किंतु यदि उसका अध्ययन ठीक से किया जाय तो उससे जीवन शांतिमय बनता है। इस तरह अत्यधिक विलास से उत्पन्न होने वाले क्लेशों और निराधार डरों से उत्पन्न होने वाली मानसिक अशांति को दूर किया जा सकता है। मौत का डर लोगों को बहुत परेशान करता है। दर्शन इस एपीक्यूरसीय आदर्श को सिद्ध करता है कि मौत से डरने का कोई कारण नहीं है।

---

१ एपीक्यूरस, दि एक्सटैंट रिमेन्स, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६

> इस विश्वास को पक्का कर लेना चाहिए कि मौत हमारे लिए कुछ नहीं है। अच्छा और बुरा तो अनुभूति में ही होता है और मौत में अनुभूति नहीं रहती। मौत हमारे लिए कुछ नहीं है इसको ठीक तरह से समझ लेने पर जीवन सुखमय बन जाता है। मौत का सही ज्ञान हमारे मन से अमरता की लालसा को निकाल देता है।

चूँकि मरना दुखदाई नहीं है इसलिए उसके ख्याल को भी दुखदाई नहीं होना चाहिए और मौत से डर नहीं लगना चाहिए। ज्ञानी पुरुष के लिए मृत्यु निरर्थक है क्योंकि "जब तक हम रहते हैं तब तक मौत नहीं रहती और जब मौत रहती है तो हम नहीं रहते।" इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानी आदमी को जल्द मरने के लिए आत्महत्या कर लेनी चाहिए। जब कोई असाध्य रोग से दर्द से घुट घुट कर मरने लगे तो शायद ज्ञानी आदमी आत्महत्या को बुरा नहीं समझेगा। मुँह दिखाने योग्य न रहने या प्रतिष्ठा धूल में मिल जाने पर भी आत्महत्या बुरी नहीं है। इन दोनों बातों के लिए एथेन्स और बाद में रोम में आत्महत्या करना नैतिक काम समझा जाता था। समझदार आदमी आत्मनियंत्रण से अधिकाधिक सुख पा सकता है। एपीक्यूरस के अनुसार सच्चा सुख सोच-विचार से पैदा होने वाले मनः प्रसाद, दार्शनिक चिंतन, स्वस्थ शारीरिक इच्छाओं और अन्य लोगों के प्रति मैत्रीभाव रखने से ही मिलता है।

यह एक बड़ा विरोधाभास है कि एपीक्यूरस सुख को मानव जीवन का परम हित मानते हुए भी सुखवादी कहलाने के योग्य नहीं है। यदि किसी नैतिक सिद्धान्त के अर्थ की पुष्टि व्यवहार द्वारा होती हो तो एपीक्यूरस सुखवादियों की अपेक्षा स्टोइकों (Stoics) और धार्मिक नीतिज्ञों के अधिक निकट है। एरिस्टीपस और एपीक्यूरस के दो विरोधी दर्शनों में मनुष्य का प्रधान हित 'सुख' ही माना गया है; इससे 'सुख' शब्द की जटिलता और दुरूहता का पता चलता है।

सुखवाद का 'प्रमाण' (The 'Proof' of Hedonism)

अपने सिद्धान्त की सत्यता के लिए सुखवादी मुख्य युक्ति यह देते हैं कि मनुष्यों के काम को संचालित करने और कर सकने वाला उद्देश्य सुख ही है। हरेक काम अपने लिए अत्यधिक सुख और न्यूनतम दुख पाने की नीयत से किया जाता है। सुख की इच्छा ही मनुष्यों के कामों का संचालन करती है। इस सिद्धान्त को मनोविज्ञानीय सुखवाद कहा जाता है। नैतिक सुखवाद में सुख को एक आदर्श माना जाता है जिसको पाने के लिए काम करना चाहिए। सुखवाद के ये दोनों पहलू बेन्थम के इन शब्दों से अभिव्यक्त हैं :

> प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख के संचालन में रक्खा है। वही यह बताते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और हम जो कुछ करते हैं वह उन्हीं से निर्धारित होता है। उचित और अनुचित का मापदंड और कार्य-कारण की शृंखला उन्हीं पर आधारित है।

मनोविज्ञानीय सुखवाद बहुत से लोगों को पहली नज़र में ठीक सा जँचता है। इसमें कोई शक नहीं कि हरेक व्यक्ति सुख दुख के वश में होता है। दूसरे सुख दुख और उनको ग्रहण करने के तरीके इतने हैं कि यदि कोई आदमी किसी सुख को छोड़ दे या दुख सहने लगे तो यह विश्वास किया जा सकता है कि ऐसा उसने किसी और बड़े सुख को पाने या दुख से बचने के लिए किया होगा। यह शल्य चिकित्सा आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है। सुखवादी नीयत को वहाँ भी देखा जा सकता है जहाँ उसका प्रमाण कम निश्चित होता है। जो लोग अपनी न्यायप्रियता का बहुत गुणगान करते हैं वे अक्सर अपने स्वार्थपूर्ण गुप्त उद्देश्यों पर पर्दा ही डालते हैं। इसी दिखावे से खिन्न होकर बर्नार्ड मैंडेविल (१६७०-१७३३) ने यह कहा था :

> किसी डूबते हुए भोले भाले शिशु को बचाने में कोई विशेषता नहीं है। उसको बचाना न तो उचित है और न अनु-

> चित। बचाए जाने से बच्चे को कोई भी फायदा क्यों न हो किंतु हम अपने प्रति आभारी बन जाते हैं। शिशु को डूबता देखकर उसे बचाने को चेष्टा न करने से हमें दुख होता; अतएव हमारी आत्मसंरक्षण की भावना ने हमें शिशु को बचाने पर बाध्य किया।[1]

यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद सार्वभौम रूप से सत्य है तो सुखवादियों का कहना है कि नैतिक सुखवाद आवश्यक है। यदि मनुष्य सदा सुख दुख से ही परिचालित होते हैं तो किसी और नैतिक लक्ष्य को मानना हास्यास्पद है। इसके लिए जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह युक्ति दी है: "किसी चीज़ के दिखाई पड़ने का प्रमाण यही है कि लोग उसे देखते हैं। इसी तरह किसी वस्तु के अभीष्ट होने का प्रमाण यही है कि लोग वाकई उसे चाहते हैं।" अतएव सुख को अभीष्ट अर्थात् श्रेयस्कर होना चाहिए क्योंकि सब लोग सुख चाहते हैं। और चूँकि सब लोग सदा अधिक से अधिक सुख की कामना रखते हैं इसलिए अधिक सुख अधिक श्रेयस्कर होता है। अतएव हमारा सर्वोच्च नैतिक लक्ष्य अपनी शक्ति के अनुसार अत्यधिक सुख पाने का प्रयत्न होना चाहिए।

२. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

उपयोगितावाद अपनी मूलभूत धारणाओं में सुखवाद ही का एक रूप है, भेद केवल इतना ही है कि उपयोगितावाद का लक्ष्य किसी एक व्यक्ति का सुख न होकर अधिक से अधिक लोगों का सुख है। इसलिए इसे सार्वभौम सुखवाद कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से सुखवाद के दोनों रूपों, स्वहितवादी और सार्वभौम, में बड़ी विभिन्नता है। उपयोगितावादी सम्प्रदाय के नेता जेरमी बेन्थम (१७४८-१८४२) और जॉन स्टुअर्ट मिल

---

१ ऐन एन्क्वायरी इनटू दि ऑरिजिन आव् मॉरल वैल्यू (ऑक्सफोर्ड, दि क्लैरेन्डन प्रेस)

(१८०६-१८७३) अपने समय के प्रसिद्ध समाज सुधारक थे। एपीक्यूरस शायद उनके इस काम को पसन्द नहीं करता। उपयोगितावाद का सुखवादी पहलू दो अर्थों में आवश्यक है। बेन्थम और मिल मनोविज्ञान को मानवी उद्देश्यों का सच्चा विवरण और इसलिए सामाजिक कर्तव्यों का अनिवार्य आधार मानते हैं। दूसरी ओर उनका नैतिक आदर्श मानववादी होते हुए भी मानवतावाद के धार्मिक, सन्यासिक आदि रूपों का विरोधी है और उनके विपरीत सामाजिक आदर्श का प्रतिपादन सुखवादी ढंग से करता है।

बेन्थम ने अपने उपयोगितावादी नीति शास्त्र का प्रतिपादन मनोविज्ञानीय सुखवाद के एक अत्यन्त उग्र रूप के आधार पर किया है जिसे वह आत्मवरीयता (self preference) का सिद्धान्त कहता है। वह अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन यों करता है :

> प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से इस तरह काम करता है कि उसे उस काम से अत्यधिक सुख मिल सके चाहे उस काम का असर दूसरों के सुख पर कैसा ही क्यों न हो।[1]

डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) ने अपनी पुस्तक "इनक्वायरी कंसर्निंग दि प्रिंसिपिल्स आव् मारल्स" में सुखवाद द्वारा किये गये मानवी उद्देश्यों के इतने अतिशय साधारणीकरण के विरुद्ध चेतावनी दी है। उसके अनुसार मनुष्य में सामाजिक और सहानुभूति की भावनाओं के साथ-साथ स्वार्थ भी होता है और उनमें कोई विरोध नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य स्वार्थ और आकांक्षा या स्वार्थ और प्रतिशोध की भावना से काम कर सकता है उसी प्रकार वह स्वार्थ और उदारता से भी काम कर सकता है। किंतु बेन्थम के मनोविज्ञान में इस बात को नही माना गया है। "मनुष्य अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए सार्वजनिक हित की कीमत पर जो भी जघन्य काम कर सकता है उसे वह अवश्य करेगा यदि ऐसा करने न दिया जाय।"

---

१ जेरमी बेन्थम, वर्क्स, जि० ६, पृ० ५

मानवी स्वभाव को इतना कठोर मानने के कारण बेन्थम सहानुभूति के सिद्धान्त पर आधारित ह्यूम और आदम स्मिथ के मतों पर सन्देह करता था। सहानुभूति को मानने से व्यक्ति की निजी अभिरुचि ही कसौटी बन जाती है और उससे कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं मिल सकता। "सिद्धान्त से आन्तरिक भावनाओं का संचालन करने वाले किसी वाह्य साधन का पता चलने की आशा की जाती है। यदि आन्तरिक भावनाओं को ही आधार और मापदण्ड मान लिया जाय तो यह आशा पूरी नहीं होती।"[1] न्याय शास्त्र (Jurisprudence) में रुचि रखने से बेन्थम कोई कठोर नियम, कोई व्यापक और सार्वभौम कसौटी चाहता था और समझता था कि वह कसौटी उसने आत्म-वरीयता के सिद्धान्त में पा ली है।

मात्रात्मक सिद्धान्त (The Quantitative Principle)

बेन्थम के मत की दूसरी आवश्यक बात यह है कि वह दो सुखों या दुखों में परिणाम-भेद मानता है।

मात्रा-भेद में वर्णित हो सकने पर गुण-भेदों (Differences of quality) की उपेक्षा की जा सकती है। विज्ञान में विभिन्न रंग, गर्मी, आवाज और वजन का भेद नापा जा सकता है और उनके भेद को मात्रात्मक सम्बन्धों में वर्णित किया जा सकता है। विज्ञान के अनुसार जगत के हर पदार्थ को उसके मात्रात्मक भेद के रूप में समझा जा सकता है। क्या नीतिशास्त्र में भी इसी तरह की प्रणाली अपनाई जा सकती है? क्या सुखों और दुखों को नापने का मापदण्ड मिल सकता है?

मिल सकता है, और यह समझ कर बेन्थम ने मात्रात्मक भेदों के रूप में सुखों और दुखों को नाप सकने के लिए एक 'सुखवादी-अनुगणन-विधि' (hedonistic calculus) बनाई। इस अनुगणन विधि के अनुसार किसी काम का नैतिक मूल्य (१) सुखों और दुखों की तीव्रता, (२) उनके कार्यकाल (duration), (३) उनकी पूर्वकथनीयता की

---

१ वही पृ० १९२ और जि० १, पृ० ६

उपपद्यता (probability) की मात्रा, (४) उनकी क्षिप्रता (promptitude), (५) उनकी प्रभावोत्पादकता (fecundity) अर्थात् किसी सुख या दुख के बाद दूसरे सुखों या दुखों का प्रकट होना, (६) उनकी शुद्धता अर्थात् किसी सुख के बाद दुख या दुख के बाद सुख का न आना और (७) उनके सामाजिक क्षेत्र अर्थात् उनका असर कितने लोगों पर पड़ता है इन बातों पर निर्भर करता है। यह अनुगणन-विधि किसी काम की नैतिकता पर विषयगत (objective) विचार करना संभव कर देती है। किसी काम से उत्पन्न होने वाले सारे सुखों की सूची बनाना चाहिए; फिर सातों दृष्टिकोणों से हर सुख का मूल्य निर्धारित करना चाहिए और फिर सब मूल्यों को जोड़ देना चाहिए। यही दुखों के साथ भी करना चाहिए। फिर दुखों को सुखों में से घटाना चाहिए। अब यदि नतीजा भावात्मक निकले तो वह काम नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर है और उसे करना चाहिए। यदि नतीजा अभावात्मक (negative) निकले तो काम नैतिक दृष्टि से बुरा है और उसे नहीं करना चाहिए।

सामाजिक नैतिकता की अनुज्ञप्ति

अब बेन्थम के मत के तीसरे पहलू सामूहिकतावाद (collectivism) का विवेचन करना रह जाता है। मनुष्य को स्वभावतः अपने ही सुख की पड़ी रहती है किंतु फिर भी नैतिक आदर्श को अत्यधिक लोगों का अत्यधिक सुख ही मानना चाहिए। हम सदा अपने ही सुख के उद्देश्य से काम करते हैं किंतु हमारे काम का नैतिक मूल्यांकन सामान्य सुख की वृद्धि के मापदंड से करना चाहिए। उद्देश्य और मापदंड के इस विरोध को कैसे मिटाया जा सकता है ?

इस विरोध को यों मिटाने की चेष्टा की गई है : काम की नैतिकता उस काम को कराने वाले उद्देश्य में न होकर उसके सामाजिक परिणाम में होती है। यह बात तो अभी अभी प्रतिपादित सिद्धान्तों से अनुसरित होती लगती है क्योंकि यदि किसी काम को करने का उद्देश्य केवल अत्यधिक सुख प्राप्त करना ही हो तो उद्देश्यों में एक दूसरे से कोई भेद

नहीं हो सकता। अपने सुख की इच्छा अनेक रूप ले सकती है और बार-बार के अनुभव से यह पता लगाया जा सकता है कि किन उद्देश्यों का परिणाम सुखमय होता है और किनका दुखमय। ख्याति की इच्छा, मैत्री की आकांक्षा, दूसरों की सहायता करने की कामना स्वार्थमय होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से सुखमय परिणामों को पैदा करती हैं और इसलिए उन्हें श्रेयस्कर कहा जा सकता है। क्रोध, ईर्ष्या और प्रतिशोध से सामाजिक दुख बढ़ते हैं इसलिए उन्हें बुरा कहा जा सकता है। आत्मसंरक्षण, शारीरिक इच्छाओं, आर्थिक लाभ आदि अन्य उद्देश्यों के सुखमय और दुखमय परिणामों में एक संतुलन सा होता है इसलिए उन्हें तटस्थ उद्देश्य कहा जा सकता है। यहाँ उद्देश्य अपने आप में अच्छा या बुरा नहीं होता वरन् उसके परिणामों के अनुसार ही उसे अच्छा या बुरा कहा जाता है। नैतिक-अनुगणन विधि के अनुसार "पाप सुखों और दुखों का गलत मूल्यांकन है, वह गलत नैतिक गणित है।" पुण्य सही नैतिक गणित है। मिल का एक उदाहरण लीजिए :

> डूबते को बचाना नैतिक दृष्टि से उचित है चाहे उद्देश्य कर्तव्य रहा हो या पुरस्कार मिलने की भावना; अपने मित्र के साथ विश्वासघात करना जुर्म है चाहे वह दूसरे मित्र की बड़ी से बड़ी कृतज्ञता चुकाने के उद्देश्य से ही क्यों न किया गया हो।[1]

बेन्थम इस स्थिति की व्याख्या यों करेगा : विश्वासघाती ने अपने दूसरे मित्र के सुख ही जोड़े और अपने पहले मित्र के दुखों को जोड़कर दूसरे मित्र के सुखों से घटाकर पहले मित्र के अधिक दुख को नहीं देखा, इसलिए उसकी नैतिक गणित ग़लत हो गई और उसका काम बुरा बन गया।

हर काम की नैतिकता का निर्णय उसके वास्तविक परिणाम से न कर प्रत्याशित परिणामों से भी करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति नदी में कूद-

---

१ जॉन स्टुअर्ट मिल, यूटिलिटेरियेनिज्म, परि० २

कर किसी डूबते हुए को बचाना चाहे किंतु प्रवाह के कारण बचा न सके तो भी उसका काम प्रशंसनीय होगा क्योंकि यदि वह डूबते व्यक्ति को बचाने में सफल होता हो उससे मानवी सुख की वृद्धि होती। इसी प्रकार यदि कोई विश्वासघात करना चाहे किंतु सफल न हो सके तो भी उसका काम निन्द्य है। बेन्थम के लिए उद्देश्य और काम का भेद उतना महत्व-पूर्ण नहीं है जितना कि उद्देश्य और नीयत या इरादे का। अपने मित्र को कर्ज़ देने का इरादा उसे आर्थिक कष्टों से मुक्त होकर सुखपूर्ण और उपयोगी जीवन के लिए तैयार कर सकना हो सकता है। किंतु ऐसा मैत्री प्रेम उदारता के प्रदर्शन या भविष्य के किसी लाभ के उद्देश्य से किया जा सकता है। संक्षेप में नीयत लक्ष्य बनाए गए परिणामों का वर्ग है। उद्देश्य संकल्प को प्रेरित या निर्धारित करता है और अन्तिम विश्लेषण में "एक निश्चित ढंग से काम करने वाला सुख या दुख" ही होता है।

मनुष्य के सारे कामों का मूल सुख की इच्छा और दुख से बचना है किंतु उनसे उत्पन्न होने वाली नीयतों की नैतिक योग्यता में अन्तर हो सकता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि मनुष्य की नीयत और उसके आचार को सुधारने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार से ही अत्यधिक सुख मिल सके। बेन्थम इस प्रकार की व्यवस्था को, चाहे वह प्राकृतिक हो या मनुष्यकृत, अनुज्ञप्ति (sanctions) कहता है।

किसी सिद्धान्त या सदाचार के नियम को शक्ति देने वाली अनुज्ञप्तियाँ, या सुखों और दुखों की व्यवस्थाएँ, चार हैं। पहली भौतिक अनुज्ञप्ति है जो प्रकृति द्वारा दिए गए सुखों और दुखों में है। स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक खान-पान से सुख मिलता है और अधिक खान-पान से रोग हो जाते हैं जिनसे दुख मिलता है। इस अनुज्ञप्ति का सामाजिक आदर्श से बहुत सम्बन्ध है क्योंकि यदि हर कोई ऊँटपटाँग ढंग से रहने लगे तो सार्वभौम सुख नहीं बढ़ सकता। देश के कानूनों और उनको तोड़ने की सज़ा पर आधारित दूसरी राजनैतिक अनुज्ञप्ति है। तीसरी नैतिक या सार्वजनिक

अनुज्ञप्ति है। मनुष्य को सार्वजनिक सम्मान मिलने से सुख होता है और निन्दा से दुख; इसलिए वह सार्वजनिक सम्मति के दबाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। चौथी धार्मिक अनुज्ञप्ति है। यहाँ मनुष्य की अन्तरात्मा उसे सुख या दुख देती है और उसे पारलौकिक पुरस्कार और दंड का भय होता है। ये सब अनुज्ञप्तियाँ मनुष्य के काम के निजी परिणामों और सामाजिक परिणामों में एकता लाती हैं। यदि यह एकता पूर्ण होती तो कोई नैतिक समस्या न होती; किंतु ऐसा नहीं है। अतएव बेन्थम के अनुसार कानून का अभिप्राय राजनैतिक अनुज्ञप्ति को अपराधी को अपराध के अनुपात के अनुसार दंड दे सकने की शक्ति दे देना है।

मिल का विरोधी मत (Mill's Heresy)

जॉन स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के 'उपयोगिता के सिद्धान्त' (the theory of utility) की जगह 'उपयोगितावाद' शब्द का प्रयोग कर उस सिद्धान्त में तार्किक दृष्टि से एक उच्छेदक परिवर्तन कर दिया है। बेन्थम के सिद्धान्त का बड़ा विरोध हुआ था। कुछ विरोध तो ऐसा था जो स्वार्थपूर्ण कारणों से पुरानी संस्थाओं को न बदलने के लिए किसी सामाजिक सुधारक के प्रति किया जाता है। किंतु कुछ पक्षपात रहित आपत्तियाँ भी थीं। कुछ लोगों को जीवन का प्रयोजन सुख के अतिरिक्त और किसी बात में न मानना बड़ा कुत्सित सिद्धान्त लगता था। कार्लाइल ने इस मत को सुअरों का दर्शन बताया था। बेन्थम इस समय तक मर चुका था अतएव मिल को ऐसे आलोचकों को जबाब देना पड़ा। मिल ने उन पर उपयोगितावादी दर्शन की ग़लत व्याख्या करने का दोष लगाया क्योंकि उनकी आलोचना के अनुसार "मनुष्य उन्हीं सुखों की अनुभूति के योग्य है जो सुअरों को होती है।" किंतु "मनुष्य की ऐन्द्रिक क्षमता जानवरों से ऊँची होती है इसलिए वह अच्छे प्रकार के सुखों का उपभोग कर सकता है। बुद्धि, कल्पना द्वारा उत्पन्न अनुभूतियों और नैतिक भावनाओं के सुखों का संवेदन मात्र के सुखों से अधिक मूल्य होता है।

मिल के अनुसार "कुछ सुखों का मूल्य अन्य सुखों से ज्यादा मानने से उपयोगिता-सिद्धान्त में कोई असंगति नहीं आती।"

किंतु ऐसा है नहीं। बेन्थम की रचनाओं में गुण-भेद को वहीं तक स्वीकार किया गया है जहाँ तक उससे मात्रा-भेद सूचित होता है। बेन्थम के अनुसार नैतिकता की कसौटी सुख-दुख का परिणाम ही है। यदि दो सुखों की मात्रा बराबर हो तो उनके गुण-भेद का कोई नैतिक महत्व नहीं होता। मिल का कहना है कि "जब गुण और मात्रा दोनों पर विचार किया जाता है तो सुखों को परिमाण पर ही निर्भर मानना अनर्गल है।" ठीक है, किंतु मिल ने बेन्थम के मूलभूत नैतिक सिद्धान्त को बदल डाला है और वह बेन्थम का प्रशंसक होने से अपने काम की महत्ता नहीं समझ सका है। इस परिवर्तन का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बेन्थम नैतिक चिंतन को "नैतिक गणित" और मूल्यांकन को नाप-तोल ही मानता था। मिल एक विरोधाभास में पड़ गया है और दूरी को पहले मीलों में बताकर बाद को कहता है कि सब मीलों की लम्बाई एक सी नहीं होती।

गुण का मापदंड (The Standard of Quality)

किंतु हमें मिल ने अपने और बेन्थम के मत में जो सादृश्य दिखाने की कोशिश की है उसे भूलकर मिल के उपयोगितावाद से पैदा होने वाली समस्या पर विचार करना चाहिए। गुण की परख किस चीज़ से हो सकती है? परिमाण को नापा जा सकता है, उसमें कम और ज्यादा का सम्बन्ध होता है; किंतु गुण निरपेक्ष होता है। दो रंगों, दो गन्धों आदि में कम या ज्यादा का सम्बन्ध नहीं होता, वे निरपेक्ष होते हैं। इसी तरह सुखों के भेद मात्रात्मक तुलना से नहीं बताए जा सकते। तब दो सुखों में किसकी नैतिक महत्ता अधिक है यह कैसे निर्णय किया जाय? मिल का कहना है कि "इसका एक ही संभव उत्तर है" और वह उसे देता है :

> दो सुखों में से यदि दोनों ऐसे हों जिनका अनुभव सभी को हो तो उनमें से नैतिक बाध्यता के बिना जिस सुख को सभी

पसन्द करें वही अधिक वरणीय होगा। दोनों सुखों को जानते हुए भी यदि लोग एक सुख को दूसरे से श्रेष्ठ समझकर पसन्द करते हैं, चाहे उससे बाद में अधिक असन्तोष ही क्यों न होता हो, और वे उसे अन्य सुख के अत्यधिक परिमाण में मिलने पर भी नहीं छोड़ना चाहते हों तो वह सुख गुण (quality) में श्रेष्ठ होगा और तब तुलना में उसकी मात्रा का कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि जो लोग दोनों सुखों को जानते हैं और उनका उपभोग करने की क्षमता रखते हैं वे अपनी पसन्द सोच विचार कर ही करते हैं। कोई व्यक्ति पूरा पाशविक सुख पाने के लालच पर भी पशु बन जाना पसन्द नहीं करेगा। कोई बुद्धिमान आदमी मूर्ख, शिक्षित अज्ञानी और विवेकशील स्वार्थी और नीच बनना नहीं चाहेगा, चाहे उसे इस बात का यकीन भी क्यों न दिला दिया जाय कि पशु, मूर्ख और नीच व्यक्ति उसकी अपेक्षा अपनी किस्मत से ज्यादा सन्तुष्ट होते हैं...अच्छे मस्तिष्क वाले को प्रसन्न करने के लिए कुछ और ही चाहिए; उसमें मामूली आदमियों से दुखी होने की क्षमता अधिक होती है। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी वह जीवन के निम्न स्तर पर जाने की इच्छा कभी नहीं करेगा।[1]

मिल के इस महत्त्वपूर्ण कथन से दो प्रश्न सामने आते हैं। क्या यह कथन बेन्थम के 'उपयोगिता-सिद्धान्त' से संगति रखता है, और यदि नहीं रखता है तो दोनों सिद्धान्तों में से कौन सत्य के अधिक निकट है? मिल और बेन्थम के शब्दों की तुलना करने पर पहले प्रश्न का उत्तर तो नकारात्मक ही होगा। बेन्थम नैतिकता को 'गणित' मानता है और उसके अनुसार बराबर परिमाण वाले सुख समान होते हैं। यहाँ मिल के 'सुखों की श्रेष्ठता' के लिए कोई स्थान नहीं है। अब दूसरे प्रश्न पर

---

[1] यूटीलिटेरियेनिज़्म, परि० २.

आइए : दोनों उपयोगितावादी सिद्धान्तों में कौन सत्य के अधिक निकट है ? कुछ लोगों को मिल के मत में अपने अनुभवों का अधिक सही चित्रण मिलता है । कुछ लोग ऐसा मानने से संकोच कर सकते हैं । आपत्ति काल में लोग पशु बन जाना ही बेहतर समझते हैं । अनुभव की अवस्थाएँ क्षणिक और परिवर्तनशील होती हैं और जब तक वे कुछ स्थाई न हों तब तक उनसे सही नैतिक सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते । मिल से सैद्धान्तिक स्तर पर भी विवाद हो सकता है । उसका कहना है कि "असन्तुष्ट होना और मनुष्य होना सन्तुष्ट होने और पशु होने से अच्छा है; असन्तुष्ट सुकरात होना सन्तुष्ट मूर्ख होने से लाख अच्छा है। किंतु यदि मूर्ख और पशु अलग राय रखते हैं तो वह इसलिए कि वे केवल अपने प्रश्न के पहलू को ही जानते हैं । मनुष्य उनकी तुलना में दोनों पहलुओं को जानता है ।" इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य पर आलोचकों को आपत्ति हो सकती है । क्या बुद्धिमान आदमी मूर्ख होना क्या है इसे जान सकता है ? क्या संयमी आदमी विलासी आदमी के सुखों या साहसी व्यक्ति कायरता को समझ सकता है ? क्या कोई आदमी पशु होना क्या है इसे जान सकता है ? दो सुखों में कौन सा श्रेष्ठ है क्या इस विषय पर दोनों सुखों का अनुभव रखने वाले व्यक्तियों में सहमति हो सकती है ? योग्य से योग्य आलोचक भी किसी चित्र या कविता पर मतभेद रख सकते हैं । ऐसा ही क्या सुख के बारे में नहीं हो सकता ?

इन आपत्तियों का उत्तर यह होगा कि निर्णायक सर्वज्ञ नहीं होते इसलिए उनमें मतभेद सदा रहता है किंतु फिर भी सापेक्ष शक्त निर्णय किया जा सकता है । पशु होना क्या है ? मनुष्य को इसका कुछ अनिश्चित सा ज्ञान होता है क्योंकि उसमें भी पशुता के तत्व होते हैं । किंतु पशु को मनुष्य की अवस्थाओं का कोई ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार बुद्धिमान, संयमी और साहसी व्यक्ति, मूर्खता, अनियंत्रित जीवन और कायरता को जानता है क्योंकि ये बातें उसमें सुप्त रूप से विद्यमान रहती हैं । कुछ लोगों का अनुभव विस्तृत होता है और इसलिए उनमें वैकल्पिक सुखों

का समीचीन वरण कर सकने की क्षमता अधिक होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विस्तृत अनुभव वाले सब लोगों के निष्कर्षों में सहमति होगी। नीतिशास्त्र में हमें हर जगह सहमति की आशा नहीं करनी चाहिए। यह हो सकता है कि विस्तृत अनुभव वाले व्यक्ति सामान्यतः किसी एक सुख को ही पसन्द करें। तब मिल के गुणात्मक भेद को स्वीकृत और लागू किया जा सकता है किंतु तब बेन्थम के "नैतिक-गणित" के निश्चित आदर्श को छोड़ देना पड़ेगा।

३ सुखवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण

यदि सुखवाद के 'प्रमाण' ठीक होते तो नैतिक खोज को बढ़ाना व्यर्थ होता। यदि हर व्यक्ति के कामों का संचालन सुखवादी आदर्श से ही होता तो अन्य सिद्धान्तों और मतों को छोड़ा जा सकता था। मूल्यों के प्रश्न पर 'प्रमाणों' में सदा कम या अधिक हेत्वाभाव (fallacy) रहता है। इस बात की पुष्टि द्वंदात्मक तर्क से होती है जिसका वर्णन पिछले अध्याय में किया गया था। जब किसी मूल्य को स्वीकार किया जाता है तो द्वंदात्मक तर्क द्वारा उसकी जगह किसी और विशद् मूल्य का प्रतिपादन भी किया जा सकता है। इस सामान्य सिद्धान्त के मार्ग-प्रदर्शन में हम सुखवाद का प्रमाण देने वाले तर्क की परीक्षा कर सकते हैं। सुखवाद का प्रमाण यों दिया जाता है : "यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद सत्य है तो परिणामस्वरूप नैतिक सुखवाद भी सत्य होगा; मनोविज्ञानीय सुखवाद सत्य है अतएव नैतिक सुखवाद भी सत्य है।" यदि हम यहाँ अनुमिति (conclusion) के सत्य में सन्देह करें तो हमें कम से कम एक प्रतिज्ञा (premise) के सत्य पर सन्देह करना चाहिए। वस्तुतः दोनों प्रतिज्ञाओं पर घोर आपत्ति की जा सकती है। अतएव हम बारी-बारी से (१) मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता और (२) मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता पर नैतिक सुखवाद की सत्यता का अनुमान करने पर तार्किक आपत्ति करेंगे।

सुखवादी तर्क के हेत्वाभास (Fallacies of Hedonistic Logic)

(१) मनोविज्ञानीय सुखवाद का हेत्वाभास—"हरेक अधिकाधिक सुख और कम से कम दुख पाने के लिए ही काम करता है," यह प्रतिज्ञा (Proposition) केवल वर्णनात्मक ही है। यहाँ किसी मूल्य को न बताकर केवल एक तथ्य का ही वर्णन किया गया है। किसी तथ्य का कथन अनुभव पर ही आश्रित होता है और उसमें निश्चित सत्य न होकर उपपद्यता (Probability) ही रहती है। बर्फ गर्मी पाकर पिघलने लगता है : यह बात हमारे पूर्व अनुभव, गर्मी और ठोस पदार्थों के स्वभाव से इतनी स्पष्ट है कि उसमें सन्देह करना समय बर्बाद करना ही होगा। किंतु उसके सत्य में अत्यधिक उपपद्यता होते हुए भी पूर्ण निश्चितता नहीं है। हम तार्किक असंगति के बिना बर्फ के न पिघलने को सोच सकते हैं। यदि ऐसा हो भी जाय तो हम उसे सामान्य नियम का एक अपवाद मान लेंगे। मनोविज्ञानीय सुखवाद में इसी शर्त का अभाव है।

जब सुखवादी यह कहता है कि मनुष्यों का लक्ष्य अत्यधिक सुख पाना होता है तो उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि मनुष्य सुख पाने के लिए ही काम करते हैं वरन् उन्हें सुख के लिए ही काम करना चाहिए। वह किसी अपवाद को मानने के लिए तैयार नहीं होता। वह देश के लिए शहीद हो जाने, विलासमय जीवन बिताने, माँ की ममता और बलिदान इन सबकी व्याख्या सुख पाना और दुख से बचना इसी दृष्टिकोण से करता है। उसकी दृष्टि में ये सब एक ही प्रश्न के अनेक पहलू हैं। वह अपवादों को भी अपने नियम का एक उदाहरण ही समझता है। चूँकि सुखवादी नियम उदाहरण के भेदों को स्वीकार नहीं करता अतएव वह अनुभव पर आधारित नहीं है। तथ्य का कथन अनुभव पर आधारित होता है इसलिए सुखवाद का यह कथन कि "हरेक अपने अत्यधिक सुख के लक्ष्य से ही काम करता है" किसी तथ्य का कथन नहीं रहता। अतएव हमें उससे कुछ भी पता नहीं चलता। उससे हम अपनी तरह से ही

व्याख्या कर सकते हैं। अपनी तरह से व्याख्या करने पर हमें तथ्य का कथन मिल सकता है किंतु अब वह सार्वभौम नहीं रहता।

(२) **नैतिक सुखवाद के अनुमान का हेत्वाभास**—अब तक हमने मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता की ही आलोचना की है। यह भी दिखाया जा सकता है कि मनोविज्ञानीय सुखवाद की सत्यता से नैतिक सुखवाद की सत्यता का अनुमान नहीं किया जा सकता। सुखवादी कहता है कि हरेक अत्यधिक सुख के लिए ही काम करता है और वह इससे यह निष्कर्ष निकालता है कि हरेक को वही करना चाहिए। यह अनुमान तभी सत्य हो सकता है जब हम यह मान लें कि मनु य के उद्देश्य जो कुछ हैं उन्हें वही होना चाहिए। इससे इनकार करने से सुखवादी के अनुमान में कोई सत्यता नहीं रहती। यदि वह इसे स्वीकार करता है तो मानवी उद्देश्यों की तार्किक आलोचना कर सकने का अधिकार खो बैठता है। उद्देश्य वही होते हैं जो उन्हें होना चाहिए : इस तरह नैतिक आग्रह निरर्थक हो जाता है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है : "मनुष्य सुख की इच्छा से ही काम करता है" और "मनुष्य सुख की इच्छा से ही श्रेयस्कर काम करता है" यदि ये दोनों बातें सार्वभौम और आवश्यक रूप से सत्य हों तो "मनुष्य के काम" और "मनुष्य के श्रेयस्कर काम" तार्किक भाव से बराबर हो जाते हैं और तब "श्रेयस्कर" शब्द निरर्थक हो जाता है। किंतु सुखवादी फिर भी "श्रेयस्कर" शब्द का प्रयोग करते हैं; उनके नैतिक दर्शन में एक काम को दूसरे से श्रेयस्कर बताया जाता है। उनकी इस बात को युक्तियुक्त कैसे बनाया जा सकता है जबकि उनके सिद्धान्त के अनुसार हमें केवल उन्हीं कामों को करना चाहिए जिन्हें हमें आवश्यक रूप से करना पड़ता है ?

(३) **नैतिक सुखवाद का प्रमाण देने की किसी भी चेष्टा का हेत्वाभास**—सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि नैतिक सुखवाद को प्रमाणित करने की हर चेष्टा सुख और हित (good) के तार्किक तादात्म्य पर आधारित है। इस तार्किक तादात्म्य का खण्डन यों किया जा

सकता है : सुख एक क्षणिक घटना होती है। सुख कम या ज्यादा देर तक बना रह सकता है किंतु फिर भी बहुत समय तक अटूट नहीं रह सकता। बौद्धिक और सौंदर्य-विषयक सुख भी अधिक देर तक नहीं रहते। किंतु नैतिक गुण एक क्षणिक घटना मात्र नहीं है। किसी काम की नैतिकता (१) कर्त्ता के चरित्र को निर्मित करने वाले गुणों और (२) उसके काम से उत्पन्न होने वाली घटनाओं से सम्बन्धित होने पर ही निर्भर होती है। इन परिणामी घटनाओं में कर्त्ता और अन्य लोगों पर असर डालने वाले विभिन्न सुख और दुख रहते हैं। उनकी संख्या और उनका वितरण किसी काम को नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर ठहराने में आवश्यक बातें हैं। किंतु सुख स्वयं अलग-अलग इकाइयाँ होते हैं और तार्किक दृष्टि से उनका काम की नैतिकता से तादात्म्य नहीं होता।

(४) **सुखों को मात्रात्मक बनाने का हेत्वाभास**—मिल ने सुखों में गुणात्मक भेद मानकर और मात्रात्मक मापदंड को अपर्याप्त समझ कर भी कभी खुले तौर से बेन्थम का विरोध नहीं किया। किसी वस्तु को प्रसारिक (spatial) सम्बन्ध के प्रसंग के बिना नहीं नापा जा सकता। यह प्रसंग सुखों में कैसे संभव है ? बेन्थम द्वारा बताई गई सुख दुख की सात कसौटियों में से सामाजिक क्षेत्र और कार्यकाल (duration) यह दो ही प्रसारिक प्रसंग की आवश्यकता को पूरा करती हैं। किसी काम से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या बताई जा सकती है क्योंकि हर व्यक्ति प्रसर द्वारा एक दूसरे से पृथक इकाई है। घड़ी देखकर सुख का कार्यकाल भी जाना जा सकता है। किंतु तीव्रता को नापने का कोई तरीका नहीं है। शरीर-विज्ञान में सुख दुख आदि की तीव्रता को खून के दबाव आदि से नापा जा सकता है क्योंकि सुख-दुख की अनुभूति और खून के दबाव में कुछ सम्बन्ध होता है। किंतु उनका सम्बन्ध गणित की भाँति सच्चा है इसे नहीं कहा जा सकता। यह तभी संभव हो सकता है जबकि स्वयं अनुभूतियों को ही नापा जा सके, और अनुभूति को नाप सकना असम्भव है। हम टहलने से पढ़ना अधिक पसन्द कर सकते हैं किंतु यह

नहीं कहते कि पढ़ना टहलने से दुगना या ढाई गुना सुख देता है। ऐसा कहना क्या निरर्थक नहीं है?

(५) **उपयोगितावाद में विरोध**—हम मनोविज्ञानीय सुखवाद से नैतिक सुखवाद का अनुमान करने के हेत्वाभास को पहले ही देख चुके हैं। उसी तरह की आलोचना उपयोगितावाद के तार्किक पक्ष की भी हो सकती है। यदि मनोविज्ञानीय सुखवाद को सही मान भी लिया जाय तो उससे उपयोगितावादी यह आदर्श कि हर व्यक्ति को अधिक से अधिक लोगों का अत्यधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए साबित नहीं होता। यदि हम अपने ही सुख की खोज में लगे रहते हैं तो हमारे ऊपर दूसरों का सुख खोजने की क्या नैतिक बाध्यता है? हमारे और उनके सुख में थोड़ी देर के लिए असंगति नहीं हो सकती किंतु कभी न कभी तो जरूर होगी, तब! तब बेन्थम का कहना है कि हमें "इस बात का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिए कि लोग अपने लाभ को देखे बिना हमारी कोई सेवा करेंगे।" किंतु यदि बेन्थम की 'सुखवादी-परिगणन-विधि' में सामाजिक क्षेत्र की कसौटी का कोई अर्थ है तो लोगों को हमारी सेवा अवश्य करनी चाहिए। यदि सुखवादी-परिगणन-विधि (calculus) से किसी काम का सामाजिक लाभ हमारे दुख से अधिक निकले तो उस काम को करना हमारा कर्तव्य और नैतिक बाध्यता होगी। दूसरी ओर बेन्थम नैतिक बाध्यता को तथ्य-विषयक मानता है। फिर इन दोनों बातों का मेल कैसे हो सकता है?

नहीं हो सकता। इस प्रश्न का रूप सुखवादी भाषा में यों होगा: उनका सुख अधिक, मेरा सुख कम या उनका सुख कम और मेरा अधिक। बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार हमारा वरण अवैयक्तिक होना चाहिए। हमें यह पूछना चाहिए कि कौन सा सुख अधिक से अधिक लोगों को अत्यधिक सुख देगा? चाहे हमें वह सुख मिले या न मिले। किंतु कुछ स्थितियों में अवैयक्तिक वरण का अर्थ अपने सुख-दुख की उपेक्षा करना

होगा। यदि हम सदा सुख पाने और दुख से बचने के लिए ही काम करते हैं तो यह कैसे संभव हो सकता है?

बेन्थम इस प्रश्न का उत्तर तर्कशास्त्री की हैसियत से कभी न देकर समाज सुधारक की हैसियत से देता है। उसका प्रस्ताव एक ऐसे विधान को बना देना है जिससे हर आदमी को लाभदायक काम करने का पुरस्कार मिले। उसकी दृष्टि में ऐसे विधान को स्थापित होना चाहिए। किंतु यदि विधान-निर्माताओं का कोई निजी लाभ न होता हो तो वे ऐसा विधान बनाने को बाध्य क्योंकर होंगे? और चूँकि ऐसे कोई कानून नहीं हैं तो क्या हम अधिक से अधिक लोगों के सुख के लिए काम करना अपना कर्तव्य नहीं समझते?

सुखवादी आदर्श का मूल्य

अब तक किए गए विश्लेषण का तात्पर्य सुखवाद को नैतिक सिद्धान्त मानने का मूल्य नष्ट कर देना नहीं है। विश्लेषण का उद्देश्य सुखवादी प्रमाणों के हेत्वाभास को दिखा देना था। सुखवाद या किसी और नैतिक आदर्श का प्रमाण नहीं दिया जा सकता। सुखवादी आदर्श को कर्त्ता अपने नैतिक उत्तरदायित्व पर स्वीकार कर सकता है। किंतु सही मूल्यांकन तभी संभव है जब हम सुख और उपभोग का सही सही अर्थ जानते हों, जब हम अनेक उद्देश्यों में भेद कर सकें। "हमें अपने जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहिए" इस आदर्श निर्णय को सार्थक बनाने के लिए हमें स्पष्ट ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस तार्किक आवश्यकता को स्वीकार करते हुए सुखी जीवन की कुछ सामान्य बातें बताई जा सकती हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पर्याप्त धन, समाज में सम्मान, अच्छे मित्र, संतुलित यौन जीवन, मनबहलाव के अच्छे साधन, साहित्य और कलाओं आदि में रुचि ये सुखी जीवन के कुछ अंग हैं। इस तरह के जीवन को हरेक अच्छा कहेगा और यदि सबका जीवन ऐसा बन सके तो क्या कहना! किंतु ऐसा जीवन कुछ भाग्यशालियों को ही मिल पाता है। अतएव हमें अपने सुख की ही

चिंता करनी चाहिए (स्वार्थमूलक सुखवाद) या उन सामाजिक रोड़ों को हटाने की जो बहुतों को ऐसा जीवन नहीं बिताने देते (उपयोगितावाद) ? या दोनों लक्ष्यों में किसी तरह का समझौता कर लेना ही अच्छा है ? या हम सुखों को केवल संयोग मात्र ही समझकर अपना हित आत्मसंयम में समझें ? इन विभिन्न आदर्शों की परीक्षा आगे के अध्यायों में की जायगी। यदि सुखवाद के अर्थ की गिरी व्याख्या न की जाय तो उससे एक तरह के प्रशंसनीय जीवन का पथप्रदर्शन हो सकता है।

> हम नष्ट हो जाने वाले पशु मात्र ही हैं—तो क्या हमें पशुओं का जीवन बिताना चाहिए ? नहीं। अतएव हमें मनुष्यता और मधुरता की हर संभावना को समय रहते बचा लेना चाहिए। एपीक्यूरसीय नैतिकता मनुष्य को पशु मानते हुए भी अन्य नैतिकताओं की भाँति इस विश्वास पर आधारित है कि मनुष्य में बुद्धि भी है। अतएव उसका प्रश्न यह है, एक बुद्धिमान प्राणी के लिए श्रेष्ठ जीवन क्या है ? जीवन को प्रतिष्ठित और महान् बनाना स्टोइकों (Stoics) का उत्तर है। एपीक्यूरसीय इसमें सन्देह करते हैं किंतु फिर भी जीवन को रुचिर बनाना चाहते हैं। उनकी सुखी जीवन की धारणा यही थी।[1]

किंतु हमें सुखवाद, चाहे वह एपीक्यूरसीय आदर्श ही क्यों न रखता हो, के खतरों से अनभिज्ञ नहीं रहना चाहिए। भ्रष्टाचार के अनेक रूप होते हैं और भ्रष्ट आदमी को जल्दी पहचाना भी नहीं जा सकता। सफलता हमें भ्रष्ट बना देती है। आत्मतृप्त होकर हम दूसरों को भूल सकते हैं, उनकी ओर से उदासीन हो सकते हैं। हो सकता है कि इस परिवर्तन से हमें दुख न हो और हमारा सुख ही बढ़े। हो सकता है कि मूर्ख आदमी का जीवन अधिक सुखी हो किंतु तो भी कम ही ऐसे

---

१ वॉर्नर फाइट, मॉरल फिलासफी, पृ० २०७-२०८

निकलेंगे जो मूर्ख बनना पसन्द करें (चाहे यह उनकी शक्ति की बात क्यों न हो)।

तो क्या हम आदर्श जीवन में सुख की आवश्यकता से इनकार करें? नहीं। जो व्यक्ति जीवन के सुखों पर लात मारकर सात वर्ष तक किताबें लिखता रहता है या समाज सुधार में लग जाता है उसे ऐसा करने में विशेष प्रकार का सुख मिलता है। सुख की इस तार्किक अस्पष्टता पर पहले विचार किया जा चुका है। किंतु इस अस्पष्टता का एक व्यावहारिक पक्ष भी है। जीवन में आसक्त होना या जीवन से विरक्त होना दोनों में ही इच्छा तृप्ति का सुख है। इच्छा के बिना कोई ऐच्छिक (voluntary) काम नहीं हो सकता। किंतु इच्छाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इच्छा किसी मौलिक अशिक्षित अन्तर्प्रेरणा पर या लापरवाही से प्राप्त की गई अपरीक्षित आदत पर निर्भर हो सकती है। किंतु ड्यूई के कथनानुसार यह हो सकता है कि "विचार करने वाली वस्तु के दृष्टिकोण से वह मौलिक अन्तर्प्रेरणा किसी और ही इच्छा में बदल जाय।"[२] इस भेद का शिक्षा में बड़ा महत्व है। शिक्षक का मुख्य लक्ष्य अपने शिष्यों की अन्तर्प्रेरणाओं का पुनर्निर्माण करना होना चाहिए जिससे वे अपरीक्षित और अशिक्षित अन्तर्प्रेरणाओं के सुखों से बचकर उन बातों में आनन्द ले सकें जिन्हें सोच विचार कर किया जाता है।

उपयोगितावाद में कुछ ऐसी सच्चाई है कि उसके विरोधी को भी उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है। अपने ही सुख में पड़े व्यक्ति के लिए सुख उच्चतम आदर्श नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति अपने लिए वैरागी जीवन चुन सकता है: यह उसका अपना मामला है। किंतु दूसरों को उनकी आत्मा या चरित्र के लाभ के लिए जबर्दस्ती वैरागी बनाना एकदम अनैतिक है (छोटे बच्चों के साथ न्यायपूर्ण जबर्दस्ती करना अनैतिक नहीं है)।

---

[२] ड्यूई और टफ्ट्स, एथिक्स, पृ० २०१।

किंतु सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगितावाद में एक दोष रह जाता है। उसका मानवतावादी आदर्श गतिहीन है। जिस समाज में लोग जीविका हीन होकर दूसरों की कृपा पर पल रहे हों वहाँ वे सक्रिय रूप से कुछ नहीं कर सकते। आदर्श समाज में लोगों को खाने-कपड़े के सुख के अलावा उपयोगी कार्य कर सकने की प्रेरणा भी मिलनी चाहिए जिससे उनकी योग्यताओं और क्षमताओं का समुचित विकास हो सके। समाज या व्यक्ति के लिए स्वीकार करने योग्य नैतिक आदर्श को विकासशील भी होना चाहिए।

४

प्रभुत्व प्राप्ति का दार्शनिक विवेचन

प्लेटो के संवाद 'गॉर्जियाज़' में कैलीक्लीज़ को स्वहितवादी या स्वार्थमूलक (Egoistic) सुखवाद के एक उग्र रूप का प्रतिपादन करते हुए देखा जा चुका है। स्वार्थपूर्ण सुख से असीमित शक्ति प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बना लेना बहुत आसान है। नीचे के उद्धरण से कैलीक्लीज़ के दर्शन का एक और पहलू मालूम होता है।

> बहुमत के ऊपर सुलाभ पाना अन्याय, अशोभनीय और पाप कहा जाता है। किंतु मेरे विचार से सबल और योग्य व्यक्ति का निर्बल और अयोग्य से सुलाभ लेना प्रकृति दत्त अधिकार है। इसका प्रमाण पशुओं और मनुष्यों दोनों के जीवन में मिल सकता है। दुर्बल के ऊपर सबल का शासन ही औचित्य माना जाता है। युद्ध में औचित्य के और किसी रूप का सहारा लिया जाता है। मेरे विचार से वहाँ प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार काम किया जाता है। हम कह सकते हैं कि तब प्रकृति के नियम के अनुसार ही काम किया जाता है यद्यपि वह काम मनुष्य निर्मित नियमों के मार्ग पर नहीं होता। हम अपने ही तरह के साहसी और श्रेष्ठ मनुष्यों को चुनकर उन्हें शेर के बच्चों की भाँति शिक्षित करते हैं। हम उन पर जादू कर देते हैं और उन्हें चीजों के बराबर भाग से सन्तुष्ट हो सकना सिखाते हैं क्योंकि वही न्याय और औचित्यपूर्ण है। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपनी पर्याप्त प्राकृतिक शक्तियों के साथ विरोध करे तो मेरा ख्याल है कि वह इन शिक्षाओं पर लात मारकर अपने बन्धनों से मुक्त

हो जायगा। वह हमारी चालों और नियमों को कुचल डालेगा क्योंकि वे प्रकृति के विरोधी हैं। जब हमारा दास विद्रोह करता है तो उसके विद्रोह में प्राकृतिक न्याय चमकता है।[१]

१. क्या शक्ति ही औचित्य (Right) है ?

प्लेटो की 'रिपब्लिक' में थ्रैसीमैकस उस काम को उचित कहता है जो अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्य की खातिर किया जाय। दूसरे शब्दों में उचित काम वह है जिसको करने के लिए हम बाध्य किए जाते हैं। इस प्रकार काम करने वालों को थ्रैसीमैकस मूर्ख और शक्तिहीन कहता है; श्रेष्ठ मनुष्य जो चाहता है वह करता है और अपने हित के लिए उचित काम के स्थापित किए गए मापदण्ड का पालन अपने अधिकृत लोगों से भी करवाता है। अतएव किसी नैतिक सिद्धान्त की अनुज्ञप्ति "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के नियम में ही है, चाहे उसके अनुमोदकों में उसे लागू करने की क्षमता हो या न हो। इससे यह भी नतीजा निकलता है कि कोई आदर्श तभी तक 'उचित' रहता है जब तक उसके अनुमोदक उसे लागू किए रहते हैं। अन्य शक्ति के आ जाने पर अन्य आदर्श 'उचित' बन जाते हैं।

इस दृष्टिकोण के पक्ष में बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। भारत से अँग्रेजों का चला जाना तो उचित समझा जाता है किंतु उनका पिछलगुआ न बनना अनुचित। यदि कोई तानाशाह किसी देश में अपनी ही चलाए और किसी दूसरे की न सुने तो क्या उसका लक्ष्य और नीति राष्ट्र के लिए 'उचित' नहीं है? यदि कोई विरोधी राय रक्खेगा तो उसका तिरस्कार देशद्रोही कह कर फौरन किया जायगा। तानाशाही में विरोध पानी के बुलबुले के समान है और कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता। मान लीजिए कि कोई राष्ट्र संसार भर को पराजित करके सारे

---

१ प्लेटो, गॉर्जियाज़, ४८३-४८४

विरोध को नष्ट कर दे तो क्या उसका काम 'उचित' नहीं माना जायगा ? किसी समय सब लोग जिस काम को उचित समझते हैं उसे क्या किसी अर्थ पूर्ण माने में अनुचित कहा जा सकता है ?

उचित और अनुचित का मापदंड बनाने वाली शक्तियों में प्रचार-शक्ति अत्यन्त प्रचण्ड है। यह निश्चित नहीं है कि कलम तलवार से हमेशा ताकतवर होती है किंतु शिक्षित व्यक्तियों को कलम के द्वारा प्रभावित किया जा सकता है।

प्रचार कैसे किया जाता है ? कभी कभी झूठ को गढ़कर। जिस बात से भय होता है उसकी ख़बर दबा दी जाती है। 'समाचार' या 'प्रचलित घटनाएँ' कही जाने वाली स्थितियों का महत्व सामाजिक प्रवृत्तियों के तौर पर ही होता है। समाचार पत्र का स्वामी सरकार को प्रभावित कर सकता है और जनता की भावनाओं पर नियंत्रण रखने की शक्ति से युद्ध या शांति के प्रश्न का निश्चय भी कर सकता है। जिस राजनैतिक या अन्य किसी वर्ग का समाचार पत्र या रेडियो पर अधिकार नहीं होता है उसके सिद्धान्तों का प्रचार नहीं हो पाता और इसलिए वे स्वीकार भी नहीं किए जाते। इसी तरह के और हजारों उदाहरणों से क्या यह पता नहीं चलता कि उचितानुचित का मापदण्ड शक्तिशाली वर्गों पर निर्भर है ?

युद्ध का दर्शन (The Philosophy of War)

जर्मन युद्ध-विशारद कार्ल फोन क्लाउज़ेवित्स (१७८०-१८३१) युद्ध को "विरोधी पक्ष को अपनी इच्छा मनवाने के लिए अन्तिम सीमा तक की गई हिंसा" कहता है। "अन्तिम सीमा तक की गई हिंसा" वाक्य द्वारा क्लाउज़ेवित्स किसी युद्ध के नैतिकातीत (amoral) होने को बताता है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से युद्ध को मानवीय बनाना चाहते हैं उन्हें वह भावुक मात्र ही कहता है। युद्ध में रत कोई राष्ट्र किसी तरह की ऐच्छिक मर्यादा से अपनी विजय को खटाई में नहीं डालेगा। जो बातें मानवीय नीति लगती हैं वे भी सैनिक महत्व के तत्व होती हैं। "यदि सभ्य राष्ट्र युद्ध बन्दियों को नहीं मारते, नगरों आदि को

नष्ट भ्रष्ट नहीं करते तो इसका कारण यह है कि वे इन भावावेश के तुच्छ कामों के अलावा शक्ति का उपयोग अन्य सक्रिय साधनों से करना चाहते हैं।" युद्ध के भयंकर से भयंकर अस्त्रों का आविष्कार "इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि युद्ध में शत्रु को नष्ट करने की भावना सभ्यता के विकास से बदली नहीं है।"[१]

क्लाउज़ेवित्स केवल सैनिक और युद्ध-विशारद ही था, दार्शनिक नहीं। उसके सिद्धान्त सैनिक दृष्टिकोण से ठीक हैं किंतु उनसे कुछ ऐसे विस्तृत प्रश्न पैदा हो गए जिन पर उन्नीसवीं शती के जर्मन विचारकों ने तत्काल ध्यान दिया? काउन्ट फोन मोल्तके ने कहा कि "युद्ध से गुण, साहस, कर्तव्यभावना और आत्मसमर्पण के भाव पैदा होते हैं।" और उसके देशवासी हाइनरिख़ फोन ट्राइत्शके ने एक निर्दयतापूर्ण राजनैतिक राष्ट्रीयतावादी दर्शन के आधार पर युद्ध का समर्थन किया। उसके अनुसार जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों पर अधिकार करने की "नैतिक अनिवार्यता" का अनुभव करता है तो युद्ध उचित है। कोई राष्ट्र विस्तार और विजय पर ही पनप सकता है। अतएव युद्ध को "दैवी नियुक्त व्यवस्था का एक भाग" मानना चाहिए।[२]

२. विकासवादी नीतिशास्त्र

चार्ल्स डारविन (१८०९-१८८२) की जीव-विज्ञान सम्बन्धी खोजों से प्रभुत्व प्राप्ति के दर्शन को नया बल मिला। डारविन के विकासवादी सिद्धान्त से एक विद्रोह सा मच गया। यद्यपि उसका सिद्धान्त नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था किंतु कालान्तर में उसका नीतिशास्त्र पर भी भारी असर पड़ा। नीतिशास्त्र के कुछ सिद्धान्त तो डारविन के मत को ठीक तरह से न समझने या उसके सिद्धान्त से निगमन (deduction) करने से गलत हो गए।

---

१ क्लाउज़ेवित्स, ऑन् वॉर।

२ पॉलिटिक्स, जि० २, पृ० ५९७-५९८ (मैकमिलन)

विकासवादी सिद्धान्त के दो पहलुओं के भेद को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है क्योंकि उनके इस भेद का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। डारविन का सबसे सामान्य और प्रमाणयुक्त मत यह है कि "जातियाँ" (जीवन के अलग-अलग रूप) विकारशील (mutable) हैं और आज जो जातियाँ विभिन्न लगती हैं वे एक ही मूल से उत्पन्न हुई हैं। इस मान्यता का अत्यधिक प्रमाण अनुभवगत है। यह सच है कि डारविन का युग उसके सिद्धान्त को अपनाने के लिए तैयार था (यद्यपि यह अनिश्चित सी ही बात है)। भाप के इंजन का आविष्कार हो चुका था और गतिहीनता का स्थान गतिशीलता ले रही थी। अतएव उस युग के लोग "जातियों" की विकारशीलता को स्वीकार करने के लिए ज्यादा तैयार थे। किंतु फिर भी विकासवादी धारणा की उपेक्षा किसी भी युग में नहीं हो सकती थी।

प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection)

किंतु डारविन के विकासवादी सिद्धान्त का एक दूसरा पहलू भी है : "जातियों के विकार की व्याख्या कैसे की जा सकती है?" एक वैज्ञानिक होने के नाते डारविन इसके उत्तर के लिए ईश्वर, प्रयोजन या जीवन-शक्ति आदि धारणाओं का सहारा नहीं ले सकता था। जातियों के विकार की जाँच और विश्लेषण से ही उस रहस्य का पता चल सकता था। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले विकार तो लाखों वर्ष पहले खत्म हो गए थे। यदि कुछ जातियों में विकार हो भी रहा हो तो उसकी पूर्णता शतियों की बात है इसलिए कोई व्यक्ति अपने जीवन काल में प्राकृतिक विकार को देख नहीं सकता। पेड़ पौधों और पालतू जानवरों के साथ किए गए कृत्रिम विकार को देखा जा सकता है। डारविन ने देखा कि पौधों और पशुओं की अच्छी नस्ल पैदा करने की सफलता चुनाव में थी। माली और जानवर पालने वाले अच्छी नस्ल का ही विकास करते हैं। किंतु चुनाव के इस सिद्धान्त को प्रकृति पर कैसे लागू किया जा

सकता है ? डारविन इस प्रश्न के समाधान पर बहुत समय तक विचार करता रहा। अंत में उसके मालथूस के "एसे ऑन् पाप्यूलेशन" में उसके विख्यात सिद्धान्त कि आबादी ज्यामितीय अनुपात और अन्न गणितीय अनुपात से बढ़ता है को पढ़ा। इसका नतीजा यह होगा कि अन्न अपने ऊपर निर्भर प्राणियों की अपेक्षा स्थाई रूप से घटता रहेगा। डारविन ने इस सिद्धान्त में अपनी समस्या का समाधान पाया।

> पशु और पौधों की आदतों को लगातार देखने पर मुझे पता चला कि जीवन संघर्ष हर जगह होता रहता है और लगा कि ऐसी परिस्थिति में अनुकूल परिवर्तन तो बच जायँगे और जो अनुकूल नहीं होंगे वे नष्ट हो जाएँगे। इसके परिणामस्वरूप नई जातियों का निर्माण होगा। यहाँ मेरे प्रतिपादन करने के लिए एक सिद्धान्त था।[1]

इस संकेत पर डारविन ने विकार कैसे होते हैं इस मत का प्रतिपादन किया। "अनुकूल परिवर्तनों के बचने और प्रतिकूल परिवर्तनों के नष्ट हो जाने" को प्राकृतिक चुनाव कहा गया। प्राकृतिक चुनाव में चार बातें हैं : (१) एक जाति के व्यक्तियों में विभिन्नताएँ, (२) खाने, शत्रु से बचने आदि के लिए एक जाति की दूसरी जाति से प्रतियोगिता पर आधारित जीवन-संघर्ष (Struggle for Existence), (३) इस संघर्ष में योग्यतम का बच रहना (survival of the fittest), और (४) आनुवंशिकता (heredity) अर्थात् जीवित रह जाने वाली विभिन्नताओं की दूसरी पीढ़ी में चले जाने की प्रवृत्ति। पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले इस व्यापार का उपचित प्रभाव होता है जिसके परिणाम-स्वरूप बहुत विशाल परिवर्तन हो जाते हैं।

विकासवाद की दार्शनिक व्याख्या

नीतिशास्त्र में इस सिद्धान्त का क्या महत्व है ? प्रोफेसर अरबन का

---

१ डारविन, दि थिअरी आव् एवोल्यूशन, एक ख़त से।

कहना है कि इस सिद्धान्त ने नीतिशास्त्र में दो तरह से क्रांति की है :

> पहले तो यह आशा की जाती थी कि विकासवाद से नैतिक प्रथाओं, भावनाओं और निर्णयों के मूल, विकास और अर्थ की व्याख्या हो सकेगी। दूसरी ओर यह आशा की जाती थी कि मूल्यों का सिद्धान्त होने के नाते नीतिशास्त्र को पहली बार विज्ञानीय और प्राकृतिक नींव पर प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। दूसरे शब्दों में जब आंगिक (organic) प्रकृति में मनुष्य का स्थान निर्धारित हो जायगा तो मानवी हित को आंगिक रूप में समझना संभव हो जायगा। इस प्रकार मानवी आचरण का निर्णय करने के मापदंडों का प्राकृतिक आधार मिल सकेगा।[1]

पहले प्रभाव पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है और नैतिकता पर वंशपरम्परा प्रणाली का प्रयोग करने के खतरे भी बताए जा चुके हैं। बहुतों ने डारविन के सिद्धान्त में वंश परम्परा (genetic) प्रणाली का समर्थन पाया। वंशपरम्परा प्रणाली में "यह क्या है?" की जगह "यह कैसे हुआ?" प्रश्न उठाया जाता है। नीतिशास्त्र में नैतिक मूल्य क्या होते हैं? इसी को जानना ज्यादा आवश्यक है। डारविन के पहले हॉब्स, मैन्डेविल और रूसो आदि नैतिक विचारकों ने वंशपरम्परा प्रणाली का प्रयोग किया था किंतु उनके निष्कर्ष वही होते थे जो वे चाहते थे। डारविन की महान् खोज के बाद वंशपरम्परा प्रणाली का एक टिकाऊ आधार मिला क्योंकि वह प्रणाली अब समुचित प्रमाणों पर आधारित थी। अतएव समाज विज्ञान और मानवविज्ञान का विकास हुआ और उन्हें नीतिशास्त्र की आवश्यक पृष्ठभूमि माना जाने लगा।

किंतु यहाँ हमें डारविन के सिद्धान्त के दूसरे पहलू से मतलब है जहाँ उसके सिद्धान्त का प्रयोग नीतिशास्त्र को एक प्राकृतिक विज्ञान बनाने के लिए किया गया है। बाद में डारविन के मत में अन्य बातों का समावेश

---

१ विल्बूर एम० अरबन, फंडामेंटल्स आव् एथिक्स, पृ० ९७।

भी हो गया, इसलिए हमें जीवविज्ञान संबंधी विकास और विकासवादी नीतिशास्त्र के सम्बन्ध को समझने के लिए उन बातों पर विचार कर लेना चाहिए। डारविन के सिद्धान्त की मुख्य बातें दो थीं : जातियों का विकार और प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त। किंतु अपने समय की प्रचलित धारणाओं को खपाने के लिए एक विज्ञानीय सिद्धान्त की व्याख्या और विस्तार कई तरह से किया जा सकता है। डारविन के समय में ऐसी दो धारणाएँ प्रचलित थीं : विश्वऐक्य (cosmic unity) और प्रगति। मनुष्य के लिए चीजों में व्यवस्था खोजना आवश्यक है और वह यह मान लेता है कि चीज़ों के मूल में कोई न कोई निरवयव (simple) पूर्ण और अटल व्यवस्था अवश्य है। अतएव विकासवाद की व्याख्या इस प्रचलित एकतावाद के अनुसार की गई। डारविन या अन्य किसी ने इस विश्वास के प्रमाण में कुछ नहीं कहा किंतु कुछ विकासवादी विकास के व्यापार को एक निरवयव समष्टि (single whole) मानने लग गए। उनके मत से एक जाति से दूसरी जाति में विकार ही नहीं होता किंतु पशु और पौधों की असंख्यक जातियों का मूल एक ही है (जिसके लिए आज तक कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिल सका है)।

डारविन के मत से सम्बन्धित हो जाने वाली दूसरी प्रगति की धारणा थी। यह धारणा जिसे काफी मान्य समझा जाता है आधुनिक ही है। यह धारणा प्राचीन यूनानी और मध्यकालीन ईसाई विचारधारा की विरोधी है और फ्रांस की क्रांति के बाद ही अधिक व्यापक हुई है। उन्नीसवीं शती के मध्यकाल तक औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति से प्रगति की धारणा सर्वमान्य हो चली और उस काल के विचारकों को डारविन के सिद्धान्त में प्रगति की धारणा की पुष्टि मिली। विकास को प्रगति के रूप में समझने से विकास को एक निरन्तर व्यापार समझा जाने लगा और मनुष्य का मूल प्रोटोप्लाज्म (वह पदार्थ जिससे सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है) में माने जाने से मनुष्य की महिमा बढ़ गई। इससे मनुष्य को और सब जीवों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा क्योंकि

मनुष्य का विकास निम्न से उच्च श्रेणी की ओर हुआ है। अब जीव-विज्ञानीय विकास को नैतिक विकास भी माना जाने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर का नीतिशास्त्र

जीवविज्ञानीय विकास की प्रणाली को हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०-१९०३) ने ही नीतिशास्त्र पर लागू किया। एक दृष्टि से स्पेन्सर का नीतिशास्त्र विशेषकर बेन्थम के उपयोगितावाद का ही तार्किक अनुगामी है। बेन्थम की भाँति स्पेन्सर भी नैतिक मूल्यों की नाप और निश्चय के लिए किसी विषयगत मापदंड को चाहता था। किंतु उपयोगितावादियों द्वारा प्रयुक्त सुख का मापदंड केवल एक अनुभूति मात्र ही है, अतएव उसमें विषय-गत स्पष्टता नहीं हो सकती। नैतिक मूल्यों का विषयगत (objective) मापदंड मनुष्यों के दुख-सुख की मात्रा में न मिलकर वाह्य जगत के किसी विषयगत परिमाण (quantity) में ही मिल सकता है। अनु-भूतियों का महत्व जीवविज्ञानवेत्ता की नज़र में गौण है; उसका प्राथमिक सम्बन्ध भौतिक जीवन से है। तब स्पेन्सर को लगा कि नैतिक मूल्य को जीवन में ही खोजना चाहिए। अनुभूति को नहीं नापा जा सकता किंतु जीवन को भौतिक होने के नाते नापा जा सकता है।

जीवन को कैसे नापा जा सकता है ? अत्यधिक लोगों की आयु या जीवन विस्तार से ? जीवन की नाप में उसका विस्तार एक बात है किंतु उसके अलावा एक और बात भी है। स्पेन्सर उस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण देता है। "जंगली और सभ्य मनुष्यों की औसत आयु या जीवन-विस्तार का भेद उनके जीवन की सच्ची माप नहीं है।" स्पेन्सर के अनुसार जीवन के मूल्यांकन में आयु या विस्तार ही सब कुछ नहीं है, जीवन में पूर्णता, जिसे स्पेन्सर "चौड़ाई" कहता है, भी होनी चाहिए। आचार के विकास में जीवन में इन दोनों बातों की वृद्धि होनी चाहिए। स्पेन्सर के अनुसार जीवन के ये दो जीवविज्ञानीय पहलू—आयु और वातावरण के अनुकूल सफल संयोजनीयता (adaptability)—ही प्रधान हित हैं।

इस सिद्धान्त में दो बातें निहित हैं। पहली बात "एक दृष्टि से हर काम को करना नैतिक बाध्यता" है। नैतिकता की माँग हमें अपने या दूसरों को क्षति पहुँचाने वाले कामों को न करना ही नहीं हैं वरन् हमें काम इस तरह करने चाहिए जिससे दूसरों के कामों को क्षति न पहुँचे और हमारे कामों में बाधा न पड़े। नियंत्रण से यदि शारीरिक साधन सुरक्षित नहीं रह पाते तो वह अनैतिक है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि कैलीक्लीज़ और थ्रेसीमैकस के सिद्धान्तों की भाँति स्पेन्सर के सिद्धान्त अत्यधिक स्वार्थ परता को उचित नहीं ठहराते। अपनी आयु और पूर्णता की वृद्धि करना ही मूलभूत रूप से श्रेयस्कर नहीं है, सब प्राणियों के जीवन की आयु और पूर्णता की वृद्धि होना ही श्रेयस्कर है। स्वहितवाद (egoism) और परहितवाद (altruism) दोनों ही समान रूप से आवश्यक हैं। समाज को निर्मित करनेवाले हर व्यक्ति के जीवन का आधिक्य आपेक्षतः निस्वार्थ सहयोग से ही प्राप्त हो सकता है। और यह दोनों बातें सम्भव हैं क्योंकि "आत्म-बलिदान भी उतना ही पुराना है जितना कि आत्मरक्षण।"

हर आचार व्यक्ति का अपने परिवेश या समाज से संयोजन है। आचार का अच्छा होना या बुरा होना, प्रशंसनीय होना या दूषित होना संयोजन की सफलता या असफलता पर ही निर्भर है। संयोजन की सफलता की माप व्यक्ति की अपने या दूसरों के जीवन की वृद्धि है—और जीवन वृद्धि की माप आयु और पूर्णता है।

स्पेन्सर का सुखवाद

स्पेन्सर का आदर्श जैविक (biological) है; पशु जीवन के विकसित रूपों पर लागू करने से उसका एक मनोविज्ञानीय पहलू भी है। अच्छे कामों से सुख और बुरों से दुख होता है किंतु सुख या दुख किसी काम को तार्किक दृष्टि से अच्छा या बुरा करार नहीं दे सकता। सुख जीवन को उन्नत बनाने वाली मानसिक अन्योन्याश्रित (correlatives) बातें है, दुख इसके विपरीत हैं। स्पेन्सर के अनुसार यह अन्योन्याश्रय

अनुभव का सामान्यीकरण (generalisation) न होकर "विकास सिद्धान्त की आवश्यक अनुमति (deduction) है।" इस अन्योन्याश्रय के बिना चेतन प्राणियों की सत्ता असम्भव हो जाती है। स्पेन्सर इसका प्रमाण यों देता है :

> यदि हम सुख को चेतनता में प्रतिधारण करने योग्य अनुभव और दुख को चेतनता से निवारण करने योग्य अनुभव कहें पो हमें तत्काल यह पता चलेगा कि यदि प्रतिधारण करने योग्य चेतनता की अवस्थाएँ क्षति पहुँचाने वाले काम की अन्योन्याश्रित हों और निवारण करने योग्य लाभदायक काम की तो वे क्षति पहुँचाने वाले काम में नहीं रह सकतीं और लाभदायक काम में उनका निवारण नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में प्राणियों की वही जाति जीवित रह सकती है जिसमें अनुकूल अनुभूतियाँ जीवन को बनाये रक्खें जबकि प्रतिकूल अनुभूतियाँ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः जीवन को नष्ट कर देती हैं। और अन्य बातों के समान रहते हुए वही जातियाँ अधिक जीवित रह सकी होंगी जिनमें सहानुभूति और काम का संयोजन सर्वोत्तम रहा होगा और जो सदा अधिक पूर्ण संयोजन की ओर प्रवृत्त रही होंगी।[1]

अनुभव इस अनुमिति का समर्थन बहुत हद तक करता है। शारीरिक आघातों से मानसिक क्लेश होता है और दुख की प्रत्याशा खतरनाक कामों को नहीं करने देती।

इसके अपवाद में शल्यचिकित्सा के दुख और शराब पीने के सुख का उदाहरण दिया जा सकता है। स्पेन्सर के इसके जबाब में दो बाते हैं। शल्यचिकित्सा के दुख और शराब पीने के सुख का बाद का असर भी तो देखना चाहिए। नशे से क्षणिक सुख मिल सकता है किंतु उससे स्वास्थ्य गिर कर बाद में दुख भी तो होता है। दूसरी ओर हम जिस

---

१ डेटा आव् एथिक्स, परि० ६

आधुनिक कृत्रिम सभ्यता में रह रहे हैं उसमें नियम के कुछ अपवाद भी तो हैं। अब हम "खानाबदोश वर्गों में न रहकर व्यवस्थित समाज में रहते हैं और हमारी पुरानी लूटमार की आदत शांतिमय आदत में बदल चुकी है। अब पुरानी सामाजिक शत्रुता का स्थान मैत्रीपूर्ण सामाजिक भावना ने ले लिया है।" इन परिवर्तनों से मनुष्य की अन्तर्प्रेरणाओं और मनोभावों के साथ साथ उसकी शारीरिक व्यवस्था में समुचित संयोजन नहीं हो पाता। वर्तमान समाज में सुख और स्वास्थ्य अपूर्ण रूप से अन्योन्याश्रित हैं; उनका पूर्ण अन्योन्याश्रय उसी समाज में हो सकता है जिसमें उनकी प्रमुख आवश्यकताओं का पूर्ण संयोजन हो।

उपयोजन (Application)

किसी नैतिक सिद्धान्त की परीक्षा उसकी तार्किकता से न कर उससे अनुमिति हो सकने वाले नैतिक कर्तव्यों से की जानी चाहिए। इस कसौटी पर स्पेन्सर का सिद्धान्तीकरण कम उग्र ठहरता है। स्पेन्सर का स्वभाव रूढ़िवादी था। अपने आदर्श को स्थापित करते समय उसने अपने समय की नैतिक धारणाओं को नहीं छोड़ा; उसने उनको युक्तियुक्त बताने का एक नया साधन ही प्रस्तुत किया। अपने आवश्यक काम या जीवन के संरक्षण के लिए यदि चोरी करना या झूठ बोलना पड़ जाय तो क्या हम चोरी करें या झूठ बोलें? नहीं, यह आदर्श का सही पालन नहीं होगा। सत्यवादिता और दूसरों के अधिकार का आदर करना मानवी सहयोग की शर्तें हैं और सहयोग के बिना समाज का जीवन उन्नत नहीं बन सकता। हमें किसी ऐसे काम को नहीं करना चाहिए जो हमें सामाजिक वातावरण की गलत धारणा दे क्योंकि तब हम उससे संयोजन करना नहीं सीख सकते।

जीवन वातावरण से सफल संयोजन पर ही निर्भर है और विकास संयोजन की एक वर्धमान जटिल शक्ति है। निम्न स्तर के प्राणी संवेदन के प्रति ही प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया करते हैं; वरण और निवारण की शक्ति का नाजुक संयोजन मनुष्य में ही होता है।

विकास का व्यापार वातावरण से आंशिक से पूर्ण संयोजन, तत्कालिक लाभप्रद वरण और तत्कालिक हानिकारक से अत्यधिक लाभ के वरण और इच्छा और कर्म के साधारण रूप से जटिल रूपों की ओर आना है। विकास व्यापार के उच्चतम स्तर का दिग्दर्शन नैतिक आदर्शों के विकास में होता है। नैतिक विकास में मनुष्य का अपने वातावरण से पूर्ण और जटिल संयोजन और जीवन को अक्षुण्ण रखने की शर्तें दृष्टिगत होती हैं।[1]

३. नीत्शे का नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र का विकासवादी दृष्टिकोण फ्रीडरिख नीत्शे (१८४४-१९००) के हाथों में उग्रतम हो जाता है। नीत्शे को समझना कठिन है; उसकी शैली स्पष्ट और चित्ताकर्षक होने से पठनीय है किंतु नीत्शे के अभिप्राय को ठीक से समझ सकना टेढ़ी खीर है। इसका प्रमुख कारण उसके चिंतन की नाटकीयता है। उसमें त्वरित गति से बदलने वाले दृष्टिक्षेत्र और इसलिए विरोधाभास अत्यधिक हैं। वह दार्शनिकों में सबसे ज्यादा उद्धरणीय है किंतु उसके वास्तविक अभिप्राय का पता किसी एक उद्धरण से नहीं चल सकता। किंतु इस विच्छृंखलता में भी एक प्रणाली है। "उसके विचार किसी विषय पर साधारण अभिप्राय वाली सम्मति न होकर विचारों का द्वन्द होता है जिससे वह किसी जटिल संश्लेषण (synthesis) की ओर जाता है।...नीत्शे गम्भीरता की एक नई धारणा देता है। उसके विषय के दर्जनों पहलू होते हैं।"[2]

दार्शनिक योद्धा के रूप में

विचारों का यह द्वन्द और दृष्टिक्षेत्र प्रणाली नीत्शे के विचित्र सन्देहवाद (scepticism) के गुण की उपज है। उसका सन्देहवाद

१ वर्नर फाइट, ऐन इंट्रोडक्टरी स्टडी आव् एथिक्स, पृ० ६६
२ जार्ज एलन मॉर्गन, ह्वाट नीत्शे मीन्स, पृ० ५

साधारण सन्देहवाद से भिन्न है क्योंकि वह स्थापित सत्यों और परीक्षा करने की स्थापित प्रणालियों में ही सन्देह न कर सामञ्जस्यपूर्ण सत्य की खोज की सम्भावना में ही सन्देह करता है। उसकी विच्छृङ्खलता वस्तुओं की वास्तविकता में विच्छृङ्खलता होने के विश्वास का ही परिणाम है। जो मनुष्य सिद्धान्तों को मानता है और सत्य को व्यवस्थित और हार्दिक समझता है वह अपने आप को धोखा देता है।

नीत्शे के अनुसार सच्चे दार्शनिक को मूल्यों के अपने माप का सृजन करना चाहिए और इस तरह से उसे इतिहास और मनुष्य के भाग्य का प्रवर्तक होना चाहिए। वह केवल मस्तिष्क से चिंतन न कर अपने रोम रोम से चिंतन करता है। वह अपने से यह नहीं पूछता कि "मैं सत्य को कितना जानता हूँ?" वरन् यह पूछता है कि "मैं सत्य को कितना कह सकता हूँ?" चूंकि वह सत्य की खोज अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक साहस से करता है इसलिए वह अपने समय के लिए बुरा होता है और विनाशकारक चुनौती से भरा संदेश देता है कि—ईश्वर मर गया है! इस कथन से नीत्शे को साधारण अर्थ में नास्तिक नहीं समझ लेना चाहिए। नीत्शे इस कथन से अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ध्रुव सत्य को पकड़ सकने से इनकार करता है। नीत्शे के लिए परिवर्तनीय प्रतिभासों में मिलने वाला सापेक्षिक सत्य ही सत्य है। प्रत्येक उत्तर अपनी खोज और निर्माण के अनुषंग से सीमित है। सत्य या वास्तविकता अतल है; तथ्य और मूल्य, प्रतिभास की सापेक्षिता और हृदयेच्छा की निरपेक्षिता अव्यवच्छिन्न है। दार्शनिक हार्दिक सन्तोष को छोड़ देने पर संसार में सबसे अकेला रह जाता है।

शक्ति प्राप्ति की तृष्णा (The Will to Power)

ज्ञान की दृष्टि से दर्शन के सारे महत्वपूर्ण प्रश्नों का एकमात्र उत्तर शून्यवाद (nihilism) ही है किंतु नीत्शे का दर्शन शून्यवाद नहीं है। ज्ञान की हर तह में तृष्णा होती है—शक्ति प्राप्ति की तृष्णा—जो सारी

विच्छृङ्खलता को अपने बनाए सत्यों के अनुरूप गढ़ लेती है। यहाँ नीत्शे का बौद्धिक शून्यवाद पता चलता है : सत्य शाश्वत न होकर कुछ विचारों का अन्य विरोधी विचारों को नष्ट करके अपने को स्थापित करने का युद्धमान औदात्त है। शक्ति प्राप्ति की तृष्णा, मनुष्य, पशु, पेड़, पौधों और जड़ जगह में सर्वत्र है। वह बादलों की गड़गड़ाहट, अंकुरित होते पौधों, गर्भस्थित शिशु, युद्ध में जाते सैनिकों, कलाकार के सृजन और संत के संन्यास में सभी जगह तो है। शक्ति का यह विदोहन सर्वत्र विद्यमान है, कभी उस पर आवरण पड़ा होता है और कभी नहीं। संसार से शोषण दूर करने की बात सोचना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना है। जीवन दूसरे के जीवन पर पनपता है और शोषण भ्रष्ट या अपूर्ण समाज का चिन्ह न होकर जीवन का सार है। इसके बिना विकास सम्भव ही कैसे हो सका होता ? डारविन के अनुसार विकास जीवन संघर्ष के कारण होता है। ठीक है, किंतु हम संघर्ष क्यों करते हैं ? प्रतियोगिता के बढ़ जाने पर हम मर क्यों नहीं जाते ? यदि हमें जीवन की तृष्णा न हो तो जीवन संघर्ष निरर्थक हो जाता है। किंतु जीवन की तृष्णा भी जीवन की विभिन्नता की व्याख्या कर सकने के लिए निष्क्रिय धारणा है। प्राणी और विशेषकर मनुष्य जीवित रहने मात्र की अपेक्षा अपना प्रभुत्व जमाने की चिंता अधिक करते हैं। मनुष्य नैसर्गिक रूप से योद्धा है, वह हिंसक और कठोर है और अपने इन गुणों से अपनी जाति को बनाए ही नहीं रखता वरन् ऊँचा भी उठाता हैं। "ज्ञान हमें निश्चिन्त, व्यंग्यात्मक और प्रतापी बनने को कहता है; ज्ञान एक स्त्री है जो योद्धा को छोड़कर किसी और से प्रेम नहीं करती।"

किंतु नीत्शे किसी एक सूत्र का दास न होकर जगत की सारी विभिन्नता को स्वीकार करता है। वह उस विभिन्नता का साक्षात् मनुष्य की औदात्त और अधिकार पूर्ण महानता में, उसकी सच्चाई और एकता में, उसकी घृणा आदि में करता है। नीत्शे के मूल्यों में आत्म-प्रतिष्ठा का अभिजातीय (aristocratic) गुण सर्वश्रेष्ठ है। आत्म-प्रतिष्ठा में एक प्रकार का

बड़प्पन होता है जो कोरा घमंड न होकर गर्व का अनुभव होता है। "जो महान् कार्य करता है वह अपने को दूसरों से बिल्कुल अलग समझता है।" आत्म प्रतिष्ठा में आत्मोत्सर्ग का सृजनात्मक तेज होता है। अभिजातीय अपनी अक्षय उदारता से दान करता है, वह किसी के प्रति देनदार नहीं होता। स्वस्थ प्रभुत्व प्राप्ति की गम्भीरतम तृष्णा किसी भी कीमत पर, आवश्यकता पड़ने पर अपने को नष्ट करके भी, "अपने से ऊपर और बाहर सृजन करना" है।

मूल्यों का मूल्यान्तरण (The Transvaluation of Values)

तृष्णा पर जोर देकर और बुद्धि को गौण मानकर नीत्शे नैतिकता में एक तीव्र सापेक्षवाद ले आता है। वह अभिजातीय लोगों, नेताओं, योद्धाओं और महान् पुरुषों, जिनका जीवन "स्वतंत्र और आह्लादमय" होता है, और सेवकों, जन साधारण आदि में, जो अपनी दुर्बल पड़ गई प्रभुत्व तृष्णा के कारण सुन्दरता और स्वतंत्रता के प्रति अमर्ष रखते हैं, भेद करता है। अतएव अभिजातीय व्यक्ति और अमर्षपूर्ण व्यक्ति मानवी स्वभाव के दो विरोधी रूप बन जाते हैं। अभिजातीय व्यक्ति अपने में आस्था रखता है और उन्मुक्त हृदय होता है किंतु अमर्षपूर्ण व्यक्ति उन्मुक्त हृदय रख सकने की क्षमता नहीं रखता। "उसकी आत्मा कुटिल होती है, उसका दिमाग कलुषित और जटिल रास्तों की ओर जाता है।" उसकी नैतिकता दास्य नैतिकता (slave-morality) होती है और वह अभिजातीय व्यक्ति की प्रभु-नैतिकता का हर तरह से विरोधी होता है।

> नैतिकता में दासों का विद्रोह अमर्ष के सिद्धान्त के सृजनात्मक और मूल्य-उत्पादक होने में ही होता है। इस अमर्ष का अनुभव उन लोगों को होता है जो कर्म के सही मार्ग से वंचित होते हैं और अपनी क्षतिपूर्ति काल्पनिक प्रतिशोध में ढूँढ़ने पर बाध्य होते हैं। प्रत्येक प्रभु-नैतिकता अपनी इच्छाओं के सफल पुष्टिकरण से उत्पन्न होती है किंतु दास्य-नैतिकता शुरू

से ही अपने से बाह्य और विभिन्न हर चीज़ से 'नहीं' कहती है : और यह 'नहीं' उसका सृजनात्मक काम है ।[1]

एक चीनी कहावत के अनुसार "महान् व्यक्ति सार्वजनिक दुर्भाग्य होता है"; और नीत्शे के अनुसार दासों के दृष्टिकोण से सब जगह ऐसा ही है । चीनियों में ही इसको स्वीकार करने की ईमानदारी है । अन्य समाज इससे गुप्त रूप से सहमत होकर अपनी संस्थाओं को इस तरह व्यवस्थित करते हैं कि "महान् व्यक्ति जहाँ तक सम्भव हो कम ही पैदा हों और बहुत प्रतिकूल अवस्थाओं में विकसें ।" महान् पुरुष छोटे लोगों को एक दैत्य सा लगता है क्योंकि उनकी नैतिकता उस आदमी का तिरस्कार करती है जो उसका तिरस्कार करता है । वे लोग अपनी नैतिकता स्वीकार करने वालों को अच्छा कहते हैं और उससे विद्रोह और विरोध करने वाले को बुरा ।

किंतु अभिजातीय पुरुष उनकी तुच्छ नैतिकता से घृणा ही कर सकता है। उसके लिए नैतिकता अपनी इच्छाओं का सफल पुष्टिकरण ही है । वह नए मूल्यों का सृष्टा है । वह पुराने मूल्यों का मूल्यान्तरण करता है, वह अच्छे और बुरे से परे जाकर अपना मूल्यांकन करता है। वह अभिजातीय व्यक्तियों के गुणों को अच्छा कहता है और दासों के आदर्शों को बुरा । केवल वही पूर्ण नैतिकज्ञ है यद्यपि अमर्षपूर्ण लोग उसे अनैतिक कहते हैं । क्योंकि वह हरेक को अपने स्तर पर लाने की चेष्टा और हरेक को समान समझने का विरोध करता है । वह उनके आदर्श में "जीवन विरोधी सिद्धान्त; मनुष्य का विनाशक, मनुष्य के भविष्य पर एक काला पर्दा, थकान का चिह्न और शून्यता की द्रुतगामी राह" देखता है । आक्रमणकारी होने से वह प्रतिक्रियावादी व्यक्ति की अपेक्षा न्याय के अधिक समीप है क्योंकि उसे प्रतिक्रिया करने वाले व्यक्ति की भाँति गलत मूल्यांकन करने के लिए चालबाजी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

१ बियान्ड गुड ऐण्ड ईविल

अतएव उसका दृष्टिकोण ज्यादा स्वतंत्र और मन ज्यादा साफ और अच्छा होता है।

फिर भी नीत्शे संघर्ष में अनिश्चितता ही देखता है। अभिजातीय नैतिकता तुच्छता का विरोध करती है। सभ्य समाज में दासों को उनकी संख्या के कारण ही सुविधा दी जाती है। ईसाई धर्म के अभ्युदय के बाद से उनका मूल्य चढ़ता रहा है। किंतु युद्ध अब तक हो रहा है और यह अब तक संभव है कि श्रेष्ठ मनुष्य अपनी शक्ति और उसके द्वारा आरोपित कठिन कर्तव्यों को समझ कर सृजनात्मक स्वभाव के स्वतंत्र मार्ग में रोड़ा बनने वाली धार्मिक या सार्वजनिक संस्थाओं को कुचल कर स्वयं शक्ति ग्रहण कर लें। शुद्ध जीवन-संघर्ष पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जीवनयापन के आधुनिक तरीके सबल की जगह दुर्बल का पक्ष लेते हैं। दुर्बल व्यक्ति सामूहिक कृत्रिमता से सबल से भी सबल बन जाते हैं। किंतु इससे वे अपने अन्दर भावात्मक मूल्य नहीं ला सकते। नीत्शे हर तरह की सबलता को महत्ता न देकर केवल नैसर्गिकतः आध्यात्मिक व्यक्ति, जो आत्मा और शरीर दोनों से योद्धा होता है, की शक्ति को ही महत्ता देता है।

किंतु हर व्यक्ति अपनी नैतिक दासता के बन्धनों को तोड़कर उन लोगों के पक्ष की ओर आ सकता है जो खतरनाक और सृजनात्मक रूप से रहकर भविष्य में आने वाली मनुष्यों की स्वस्थ और शक्तिशाली जाति की नींव डालते हैं। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं जिन्हें नीत्शे ऊँट, शेर और शिशु के रूपक से बताता है। ऊँट विनयी होता है, शेर को अपनी शक्ति का ज्ञान होता है और वह सारे बंधन तोड़कर स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है किंतु सृजन नहीं कर सकता। बच्चा "निरीह, एक नया प्रारम्भ, एक स्वचालित चक्र, एक आद्य क्रिया होता है। सृजन के लिए जीवन को स्वीकार करना पड़ता है: तब आत्मा सजातीय हो जाती है, बहिष्कृत व्यक्ति अपने संसार को जीत लेता है।"[1]

---

[1] **नीत्शे, दस स्पेक जरथुस्त्र**

४. नैतिक प्रकृतिवाद की सीमाएँ

इस अध्याय में वर्णित अनेक दर्शनों को नैतिक प्रकृतिवाद भी नाम दिया जाता है क्योंकि उनमें से हरेक प्रकृति के किसी न किसी पक्ष पर आधारित है। प्रकृतिवाद का अर्थ, चाहे उसकी व्याख्या कैसे ही क्यों न की जाय, यह है कि "जो कुछ प्राकृतिक है, और जो केवल प्राकृतिक है, वही श्रेयस्कर—" उचित, प्रशंसनीय या नैतिकता के किसी और विशेषण से अनुमोदनीय है। स्पष्ट है कि इस कथन के अनेक अर्थ हो सकते हैं क्योंकि यह इस बात पर निर्भर करता है कि वाद विवाद करने वाला अनुभव के किन तत्वों और मानवी कर्म की किन प्रवृत्तियों को "प्राकृतिक" कहता है। विशद अर्थ में तो जो कुछ होता है वह प्राकृतिक ही है। किंतु प्राकृतिक शब्द का इतना विशद अर्थ लेने पर प्रकृतिवाद नैतिकता-शून्य बन जाता है क्योंकि उसके अनुसार होने वाली सभी घटनाओं और कामों को श्रेयस्कर और उचित माना जाता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण यद्यपि बिना किसी बाध के अपनाया जा सकता है तथापि वह नैतिक दृष्टि से निरर्थक होगा। नैतिक दृष्टि से कुछ कामों और उनके साध्यों को दूसरों से अच्छा मान लेना पड़ता है और यदि सभी बातें बराबर श्रेयस्कर हों तो नीतिशास्त्र को खत्म होना पड़ेगा। अतएव नैतिक प्रकृतिवाद का प्राग्नुभवगत प्रमाण अस्पष्ट है।

> जिस तरह पशु अपनी प्रबल प्रकृति के अनुकूल काम करते हैं क्या मनुष्य भी उसी प्रकार अपनी प्रकृति, चाहे, वह प्रबल इच्छा हो या विवेक, के अनुकूल काम नहीं करते? तब हर मनुष्य को उसकी प्रबलतम प्रवृत्ति के अनुसार काम करने दिया जाय और उसके लालच, द्वेष आदि को दोष न दिया जाय क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही तो करेगा......
>
> यह अनैतिक बात इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य न्याय और सचाई के नियमों की अवज्ञा कर अपनी प्रकृति के

अनुकूल उसी तरह काम करते हैं जिस तरह वे उन नियमों का पालन करते हैं जब उन्हें कोई लालच नहीं होता......प्रकृति के अनुकूल काम करने का अर्थ यदि इच्छानुसार काम करना है तो नैतिकता में प्रकृति को पथप्रदर्शक समझना अनर्गल होगा—यही नहीं वरन् प्रकृति से हट सकना भी अनर्गल होगा और प्रकृति के अनुकूल काम करने में भी कोई अर्थ नहीं रहेगा। तब क्या कोई इच्छा के विपरीत भी कुछ कर सकेगा ?[1]

सिद्धान्त अपने तार्किक आधार वाक्यों से अधिक सार्थक मालूम पड़ते हैं। नैतिक प्रकृतिवाद प्रकृति के कुछ पहलुओं पर ही आधारित है। वह सभ्य की अपेक्षा आदिम, मानवी की अपेक्षा जैविक प्रकृति पर अधिक जोर देता है।

विकासवादी प्रणाली की सीमाएँ

नीतिशास्त्र के प्रश्नों में विकासवादी सामग्री की बहुत सीमित आवश्यकता है। उस सामग्री को अनधिकृत महत्व देना ठीक नहीं है। समाज या आदर्श के मूल और उसके विकसित रूप में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य एक ओर तो अपने इतिहास से कारणात्मक भाव से सम्बद्ध है और दूसरी ओर तार्किक और गत्यात्मक भाव से अपने इतिहास से स्वतंत्र है। मनुष्य के आदर्शों का यह दोहरा पहलू हर नैतिक दर्शन को स्वीकार करना पड़ता है। नीत्शे ने भी इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है, "नैतिकता के उद्‌गम की खोज और उसकी आलोचना में कोई नाता नहीं है······यद्यपि यह सच है कि किसी मूल्यांकन के उद्‌गम का ज्ञान उसकी महिमा को कम कर देता है और दृष्टिकोण को आलोचनात्मक बना देता है।"[2] कारणों की खोज करना विज्ञान का काम है; जीवविज्ञान और मानव विज्ञान

---

१ बिशप जोजेफ बटलर, सर्मन २

२ नीत्शे, दि विल टु पावर, जि० १

ही मनुष्य की वर्तमान अवस्था का कारण दूरस्थ उद्गमों में खोजते हैं। नीतिशास्त्र में किसी काम के कारण की महत्ता नहीं होती वरन् काम की ही होती है क्योंकि उसे किसी साध्य की प्राप्ति के लिए जान बूझकर चुना जाता है। नीतिशास्त्र में किसी प्रथा का उद्गम आवश्यक न होकर उस प्रथा का वर्तमान मूल्य ही आवश्यक होता है। वर्तमान आदर्शों के मूल की खोज और उनके जीवित रह सकने का अनुमान करना उनकी प्रकृति पर काफी प्रकाश डाल सकता है किंतु इससे उन आदर्शों का मूल्य क्या है ? यह पता नहीं चल सकता। किसी आदर्श का मूल्य और उसके जीवित रह सकने की संभावना से हम उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकते हैं या उसके प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल सकते हैं। किंतु अपनी निष्ठा का आलोचनात्मक मूल्यांकन सदा द्वन्द्वात्मक (dialectical) होता है। तथ्य चाहे कैसे हों किंतु एक सीमा के अन्दर उनका समर्थन किया भी जा सकता है और नहीं भी। आदर्श के लिए अनेक लोग शहीद हो चुके हैं और होते रहते हैं। किसी खोए हुए आदर्श के लिए लड़ने में दो बातें हैं : (१) वह आदर्श अधिक काल तक रहेगा या नहीं और (२) क्या उसके पालन करने वाले के लिए उसका कुछ वास्तविक मूल्य है या नहीं। पहला प्रश्न तथ्य-सम्बन्धी है और दूसरा आदर्शात्मक है। इतिहास और मानव जाति का अध्ययन चूँकि पहले प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देता है इसलिए अतिशय प्रकृतिवादी दूसरे प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक होने का अनुमान कर लेते हैं। किंतु यह गलत है; चूँकि हमें एक दिन मरना है इसलिए क्या हम जीवन का महत्व ही न मानें ?

दूसरे यदि विकासवादी मूलों को मान भी लिया जाय तो वह हमें कहाँ तक ले जाता है ? विकास के व्यापार में प्रगति मानी गई है; आज की विकसित जातियाँ पहली जातियों की अपेक्षा अच्छी हैं। इसके बाद डारविन के प्राकृतिक चुनाव को माना गया है; विकास के चार अन्तराश्रित साधन माने गये हैं : विभिन्नता, जीवन संघर्ष, योग्यतम का जीवित रहना और आनुवंशिकता (heredity)। फिर जैविक विकास को नैतिक विकास

भी माना गया है। किंतु उपर्युक्त दोनों बातों पर आक्षेप उठाया जा सकता है। क्या विकास के सभी परिणाम अच्छे होते हैं? क्या विकास व्यापार का हर सोपान अन्य सोपानों के समान ही अच्छा है? क्या दोष-पूर्ण संयोजन भी जैविक पूर्णता के आवश्यक अंग हैं? इस पर बहुत कम जीव वैज्ञानिक हाँ कहेंगे और अपनी हाँ को किसी तरह भी सिद्ध नहीं कर सकेंगे। यदि विकास के कुछ परिणामों को दूसरों से अच्छा मान लिया जाय तो वे परिणाम ही श्रेयस्कर हो जाते हैं और वे किसी और ढंग से भी हो सकते थे। किंतु अच्छा संयोजन संघर्ष से ही माना गया है। यह एक ऐसी मान्यता है जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। डारविन ने भी इसे विज्ञानीय प्रणाली की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक काम चलाऊ रूप में ही स्वीकार किया था। किंतु क्या विज्ञानीय प्रणाली से ही सब कुछ मिल सकता है? सीप, शंख, सफेद चूहों आदि में हमें मनुष्य की तरह संयोजन नहीं मिलता। तब क्या हम मानवी संयोजनों से पशुओं के संयोजनों की व्याख्या नहीं करते? हम मानवी उद्देश्यों और अन्तर्प्रेरणाओं को तो जानते हैं किंतु पशुओं की अन्तर्प्रेरणाओं का अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। चूँकि हम जानवरों के आन्तरिक जीवन को नहीं जानते और नहीं जान सकते इसलिए हमें उनमें उद्देश्यों आदि का आरोप नहीं करना चाहिए। ठीक है, किंतु इससे हमें जानवरों के आचरण के नमूने पर मानवी आचार के बारे में आदर्शात्मक निष्कर्ष न निकालने की चेतावनी मिलती है। हम मनुष्य के आधार के पीछे चेतन उद्देश्यों को जानते हैं और नैतिक खोज इस ज्ञात क्षेत्र में ही होनी चाहिए।

स्पेन्सर के जीवन की लम्बाई और चौड़ाई (पूर्णता) के भेद पर क्या कहा जाय? जिस तरह मिल ने उपयोगितावादी मापदंड में गुणात्मक भेद से कठिनता पैदा कर दी थी उसी तरह स्पेन्सर ने भी चौड़ाई की धारणा से अपने सिद्धान्त में दुरुहता उत्पन्न कर दी है। चूँकि जीवन को नापा जा सकता है अतएव स्पेन्सर ने सुख के मापदण्ड की जगह जीवन

का मापदण्ड रक्खा था। आयु और लोगों की संख्या से जीवन को नापा जा सकता है? किंतु जीवन की पूर्णता को कैसे नापा जा सकता है? व्यक्ति के अपने वातावरण के संयोजन की मात्रा से। किंतु व्यक्तियों में ज्यों-ज्यों संयोजन की विभिन्नता और जटिलता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उनका वातावरण भी परिवर्तित होता जाता है। आदिम शत्रुओं के विरोध में संयोजन करने पर मनुष्य ने नये अस्त्रों का उपयोग सीखा और इस तरह युद्ध कला को विकसित कर अपने परिवेश में नई जटिलताएँ पैदा कर लीं जिससे नए तरह के संयोजन आवश्यक हो गए। जो व्यक्ति शूरता के काल या भाप के युग में अपने परिवेश से आदर्श रूप से संयोजित रहा होगा वह इस बिजली के युग के परिवेश में ठीक तरह से संयोजित नहीं हो सकता। इसी तरह हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारा जीवन उस युग के लोगों के जीवन से अधिक पूर्ण है? जीवन की लम्बाई के अलावा जीवन की पूर्णता प्रगति और नैतिक कामों की महत्वपूर्ण कसौटी है। किंतु वह ऐसी कसौटी नहीं है जिस पर विज्ञानीय कार्यविधि का उपयोजन किया जा सके।

नीत्शे के आदर्श की सीमाएँ

अब तक की गई आलोचना में नीत्शे के आदर्श को नहीं छुआ गया है क्योंकि वह तार्किक प्रमाण पर आधारित नहीं है। नीत्शे मूल्य को स्वीकार करता है और मूल्य को स्वीकार करना उसके अनुसार एक सृजनात्मक काम है। नीत्शे की रचनाओं में दोष ढूँढ़ना व्यर्थ है। रूपक और अनुप्रासमयी भाषा से उसकी बहुत सी बातें असंगत जान पड़ती हैं। उसकी रचनाओं में जीवन के प्रति एक काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि मिलती है, कोई तार्किक विवेचन नहीं। अतएव हमें यह पूछना चाहिए कि क्या नीत्शे की जीवन की धारणा सही है और क्या वह सम्पूर्ण मानवी स्वभाव के साथ न्याय करती है?

नहीं करती। उसकी मर्यादा ही उसे आकर्षक बना देती हैं, क्योंकि वह जीवन के एक गुप्त पहलू का चित्रण करती है। इस सीमित अन्त-

दृष्टि का बड़ा महत्व है। वह हमें इस बात के खतरे से सचेत करती है कि हमारी नैतिकता कहीं हमारी तुच्छ अभिरुचियों का आवरण न बन जाय। हमें इस बात की चेतावनी मिलती है कि हमारी पीढ़ी के महान् व्यक्ति सार्वजनिक मापदण्डों के अनुसार चलने की हमारी आशा से नष्ट हो रहे हैं। हमें यह बताया जाता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त निर्दयता पूर्ण होता है और हम जो प्रतिभावान नहीं हैं उसके प्रति अमर्ष रख सकते हैं। किंतु हमारी एक पक्षता को संतुलित करने के मूल्य के अलावा मानवेतर मानव (superman) की धारणा सही नहीं है क्योंकि वह मनुष्य की अन्तर्प्रेरणाओं के एक वर्ग के विकास को ही महत्व देती है और दूसरों को हेय और तिरस्कृत समझती है। प्रभुत्व प्राप्ति की तृष्णा के साथ-साथ मनुष्य में सौहार्द, न्याय प्रेम और आत्मसमर्पण की इच्छाएँ भी होती हैं। मनोविज्ञानीय तथ्य के रूप में इन प्रवृत्तियों की उपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। हमारे पास उनको कम प्रकृत मानने की कौन सी कसौटी है? अगले अध्याय में हम नीत्शे द्वारा प्रशंसा की गई प्रवृत्तियों की विपरीत प्रवृत्तियों से जन्य कुछ नैतिक आदर्शों का विवेचन करेंगे।

५

कर्तव्य की भावना

जिस नैतिक स्थिति में कर्तव्य की प्रधानता नहीं होगी वहाँ नैतिक सिद्धान्तों में कुछ न कुछ कमी जरूर होगी जैसा कि हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं। यदि प्रवृत्तियों, पसन्दों आदि से अलग कर्तव्य की सत्यता न मानी जाय तो नैतिक समस्या का लोप हो जाता है और केवल यही तथ्य रह जाता है कि अमुक समय किस चीज़ को पसन्द किया जाता है। इस दुविधा से कोई छुटकारा नहीं है। या तो हम हर समय अपनी इच्छा-वश ही काम करते हैं (और यदि यही अन्तिम निर्णय हो तो सारा नैतिक विवेक निरर्थक और 'आग्रह' शब्द धोखा देने वाला है) या हम कुछ कामों को किसी सिद्धान्त (चाहे वह दोषपूर्ण और अस्पष्ट ही क्यों न हो) के आग्रह के अनुसार करते हैं।

मनुष्य में कर्तव्य, उत्तरदायित्व, उचित को देख सकने और सम्मानित काम करने की भावना होती है चाहे मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उसकी कैसी ही व्याख्या क्यों न करें। कर्तव्य के स्वभाव की ओर पहले अध्याय के तीसरे खण्ड में इशारा किया गया था। अगले अध्याय में वर्णित नैतिक दर्शन में कर्तव्य की प्रमुखता मानी गई है और कर्तव्य को सुखवाद और प्रकृतिवाद की भाँति गौण नहीं माना गया है।

१ कर्तव्य और सदसद्विवेक (Duty and Conscience)

जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब क्षणिक प्रलोभन की तीव्रता कर्तव्य को भुला देती है। कर्तव्य और प्रलोभनों का सम्बन्ध अस्थिर है। कर्तव्य की भावना के स्वर में आदेश रहता है। क्षणिक प्रलोभन हमें कर्तव्य पराङ्मुख बना सकता है किंतु सुस्थिर होने पर हमें पश्चाताप

होता है कि हमने अपने कर्तव्य को भुला डाला था। कर्तव्य में वह भावना निहित होती है जिसे हम अपना आदर्श समझते हैं और उसके अनुरूप होने की कोशिश करते हैं। कर्तव्य भावना में इच्छाओं से अधिक आदेश और प्रामाणिकता होती है किंतु फिर भी हम क्षणिक प्रलोभनों के प्रवाह में कर्तव्य को भूल जाते हैं।

तब कर्तव्य की स्वतंत्र सत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? क्या इस बात का भावात्मक प्रदर्शन किया जा सकता है कि नैतिक आग्रह या कर्तव्य और इच्छाओं या प्रवृत्तियों में मूलभूत भेद है? हाँ, किया जा सकता है, किंतु दो शर्तों के साथ। मूलभूत भेद समस्याओं से सापेक्ष होता है और केवल नीतिशास्त्र में ही कर्तव्य और इच्छा के मूलभूत भेद को सिद्ध करने की ज़रूरत है। दूसरे, सबूत द्वन्दात्मक होगा। द्वन्दात्मक प्रणाली से ही तथ्य की जगह उनके अर्थों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। द्वन्दात्मक प्रणाली में स्वीकृत अर्थ से ही प्रारम्भ किया जाता है और उस अर्थ का विश्लेषण करके उसमें निहित अन्य अर्थों को देखा जाता है।

सुखवाद, उपयोगितावाद और प्रकृतिवाद की ऊपर की गई आलोचनाओं में अनुभव की व्याख्या के लिए कर्तव्य की धारणा का प्रमाण छिपा हुआ है। पहले सुखवाद को लीजिए। सुखवाद को एकरूपता देने पर या तो वह नैतिक सिद्धान्त नहीं रहता या फिर उसमें कर्तव्य निहित रहता है। यदि सुखवादी सूत्र "सदा ऐसा काम करो जिससे ज्यादा सुख और कम से कम दुख मिले" की व्याख्या यों की जाय कि "सदा इस तरह से काम करो कि उसके करते समय अधिक सुख और कम से कम दुख मिले" तो इससे सुखवाद नीतिशास्त्र का सिद्धान्त नहीं रह जाता क्योंकि जो अनिवार्य है उसमें नैतिक आग्रह या कर्तव्य नहीं हो सकता।

दूसरी ओर यदि सुखवादी सूत्र की व्याख्या कुछ-कुछ एपीक्यूरस के ढंग पर की जाय और उसका अर्थ "इस तरह काम करो कि भविष्य के लिए अधिक सुख और कम से कम दुख मिले" लगाया जाय तो स्पष्ट

है कि यहाँ क्षणिक प्रवृत्ति के विरोध में एक आदर्श को सामने रक्खा जा रहा है। वर्तमान सुख हमें एक दिशा की ओर खींच रहा है किंतु भविष्य के सुख को सुरक्षित बनाने के लिए वर्तमान इच्छा पर नियंत्रण करना हमारा कर्तव्य है। इस सूत्र की सार्थकता का अर्थ यह है कि हमारा वर्तमान 'अहम्' हमारे भविष्य के 'अहम्' के प्रति कर्तव्य को स्वीकार करता है। इसको कोई भी नाम दिया जा सकता है। किंतु द्वन्दात्मक सिद्धान्त फिर भी लागू होता है और पहले की दुविधा का निर्माण विश्लेषण के एक नए स्तर पर किया जा सकता है। मान लीजिए सुखवादियों का तर्क यह हो कि भविष्य के दुख-सुख की मानसिक अनुभूति हमारे वरण को संचालित करती है क्योंकि वरण करते समय वह अनुभूति स्वयं कुछ सुखमय और कुछ दुखमय होती है। तब कोई नैतिक समस्या नहीं होगी क्योंकि हम आवश्यक रूप से उसी काम का वरण करेंगे जिसका मानसिक प्रभाव हमारे लिए वर्तमान में ज्यादा सुखकर और कम दुखकर होगा। वरण की संभावना और नैतिक समस्या तभी हो सकती है जब कि हमारी वर्तमान अनुभूतियाँ—भविष्य के सुख-दुख का विचार करने में वर्तमान सुख-दुख—निरपेक्ष न हों। यदि हम अपनी अनुभूतियों के विरुद्ध किसी ऐसे हित को जो प्राप्य तो हो किंतु अवश्यम्भावी न हो अपने सामने नहीं रख सकते तो वरण और नैतिक समस्या नहीं हो सकती। भविष्य के हित का विचार वर्तमान इच्छाओं से सुखकर नहीं होता किंतु उससे हमें भविष्य में अधिक सुख मिलने की आशा होती है और हम उसका वरण करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस प्रकार विशुद्ध स्वहितवादी नैतिकता में भी भविष्य के लिए कोई न कोई कर्तव्य माना जाता है।

उपयोगितावाद में कर्तव्य की स्वतंत्र धारणा को मानना और भी आवश्यक है। बेन्थम और मिल दोनों ने यह माना है कि किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ स्वार्थपूर्ण हो सकती हैं जब कि उपयोगितावाद का आदर्श परार्थ है। उनके अनुसार मनुष्यों को इस तरह शिक्षित करना चाहिए जिससे वे स्वार्थपूर्ण काम न कर सकें और समाज का सुधार ऐसा होना

चाहिए जिससे अत्यधिक संख्या के अधिकतम सुख के लिए काम करने वाले को उस काम को करने का सुख उसी अनुपात से मिले। यह नीति निस्सन्देह अत्युत्तम है किंतु यह मिल और बेन्थम द्वारा मान लिए गए सैद्धान्तिक प्रश्न का समाधान नहीं करती। वह इतना ही बताती है कि शिक्षित और परिवर्तित समाज में व्यक्ति को उसके काम के लिए सुख या दुख उसी अनुपात से मिलेगा जिस अनुपात से वह अत्यधिक लोगों के ऊपर असर डालेगा। किंतु विद्यमान समाजों में ऐसा नहीं है। बेन्थम और मिल के कथनानुसार तब हमें समाज का सुधार करना चाहिए। इस प्रकार समाज का सुधार करना हर व्यक्ति का कर्तव्य है चाहे उसको इस परोपकार से उतना सुख न मिले जितना कि स्वार्थपूर्ण काम से। अतएव उपयोगितावादी किसी काम में सुख के अतिरिक्त कर्तव्य भावना को भी मान्यता देता है।

स्पेन्सर भी कर्तव्य की स्वतंत्र धारणा को मानता है क्योंकि उसके बिना जातियों का विकास नैतिक प्रश्नों में उपयुक्त नहीं हो सकता। स्पेन्सर के अनुसार विकास-व्यापार श्रेयस्कर है इसलिए उसको आगे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है। स्पेन्सरीय दर्शन में कर्तव्य को प्रमुख और स्वतंत्र धारणा माना गया है क्योंकि यदि गहराई से देखा जाय तो स्पेन्सर सुखवादी नहीं है। वह जाति के जैविक स्वास्थ्य को ही श्रेयस्कर मानता है और इसलिए उसको आगे बढ़ाना हरेक का कर्तव्य है।

कर्तव्य क्या है ?

कर्तव्य को तार्किक दृष्टि से प्रवृत्ति से स्वतंत्र मानने का यह अर्थ नहीं है कि उनका भेद हर मामले में स्पष्ट होता है। कर्तव्य का इच्छाओं और प्रवृत्तियों से अस्थिर सम्बन्ध होता है। किंतु मानवी अनुभव की जटिलता में बहुत सी मूलभूत रूप से आवश्यक धारणाएँ मिल जाती हैं जिनकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती। किंतु उस अस्पष्टता से उनका अर्थ दुरूह नहीं होता। कर्तव्य में बहुत सी इच्छाएँ और विकार हो सकते हैं किंतु उनसे

कर्तव्य के ऊपर कोई आँच नहीं आती। यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है कि कर्तव्य हर स्थिति में स्वयंसिद्ध होता है या नहीं वरन् कर्तव्य का सामान्य अर्थ क्या है।

जी० ई० मूर की परिभाषा के अनुसार कर्तव्य "वह काम है जिससे संभव वैकल्पिक कामों की अपेक्षा संसार का अधिक हित होता है।"[1] यह परिभाषा हित के पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखती है। मूर के अनुसार ठीक ठीक परिभाषा के असम्भव होने पर भी हित के अर्थ को समझा जा सकता है। मूर ने कर्तव्य में संभव वैकल्पिक काम माने हैं: कर्तव्य वे संभव काम हैं जिन्हें व्यक्ति यदि चाहे तो कर सकता है। आँधी को रोकने से संसार का बहुत हित हो सकता है किंतु चूँकि आँधी को रोक सकना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है इसलिए आँधी को रोकना मनुष्य का कर्तव्य भी नहीं है। कर्तव्य के मामले में यह नहीं पूछा जाता कि किसी काम का कुछ अच्छा परिणाम होगा या नहीं किंतु यह पूछा जाता है कि उस काम से संसार का अत्यधिक संभव हित या "अन्य कामों की अपेक्षा उस काम का कुल परिणाम अच्छा होगा" कि नहीं। कोई काम कर्तव्य तब बनता है जब (१) उसको करना हमारे हाथ की बात हो, (२) अन्य कामों की अपेक्षा उससे ज्यादा हित हो और (३) उस काम का हित हमारे लिए ही अच्छा न होकर उससे प्रभावित होने वाले सभी लोगों के लिए अच्छा हो।

सद्सद्विवेक (Conscience) क्या है?

कर्तव्य और सद्सद्विवेक में विषयसापेक्ष (objective) और विषयिसापेक्ष (subjective) अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हमें किसी स्थिति में जो कुछ करना चाहिये वह कर्तव्य है; सद्सद्विवेक उस कर्तव्य में नैतिक भेद पता लगा सकने की क्षमता है। सद्सद्विवेक नैतिक भेद का पता

---

१ प्रिंसिपिया एथिका, पृ० १४८ और १८०-१८१

चला सकने की क्षमता है। सद्सद्विवेक अनुभूति और चेष्टा से अलग जानने का एक ढङ्ग है चाहे उसमें अनुभूति और चेष्टा कितनी ही क्यों न हों। सद्सद्विवेक उचित और अनुचित के भेद को अधिक या कम स्पष्टता से जानने का अधिकरण (faculty) है। अतएव उसे नैतिक अन्तर्दृष्टि कहा जा सकता है क्योंकि वह विश्लेषण का परिणाम न होकर एक तत्कालिक मानसिक प्रक्रिया है।

सद्सद्विवेक कभी कभी धोखे में भी डाल देता है। आत्म संयम और गम्भीर मनन से सद्सद्विवेक को विकसित किया जाता है; उपेक्षा करने से वह नष्ट हो जाता है। कर्तव्य और सद्सद्विवेक, विषय (object) और विषयि (subject) की संवादिता नैतिक अन्तर्दृष्टि की किसी प्रक्रिया में अपूर्ण हो सकती है। स्थूल सद्सद्विवेक किसी नैतिक स्थिति और उसके कर्तव्यों को अस्पष्ट तरह से समझेगा जैसे परिक्षीण समझ गणित की समस्या को नहीं समझ सकती। बौद्धिक, ऐन्द्रिक, आन्तरिक हर प्रकार के बोध में द्वैत सम्बन्ध होता है। एक ओर तो चिंतन करने वाला, भेद करने वाला, जानने वाला, याद रखने वाला विषयि (subject) होता है और दूसरी ओर चिंतन किया गया, भेद किया गया, जाना गया, याद रक्खा गया विषय (object) होता है। विषयि और विषय में अपृथकता है। वास्तविक सत्ता में वे अन्योन्याश्रित होते हैं और हर स्थिति में एक दूसरे के पूरक होते हैं। किंतु यद्यपि विषयि और विषय अपृथक हैं तथापि उनकी स्वतन्त्र विभिन्नता की क्षमता के कारण उनमें भेद किया जा सकता है। देखने की क्रिया में उनकी विभिन्नता स्पष्ट है। यदि आँखें नींद से भरी हों तो सब कुछ धुँधला दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार एक स्थूल सद्सद्विवेक कर्तव्यों को नहीं देख सकता, स्वार्थरत विवेक कर्तव्य पर ख़ुदगर्ज़ी का आवरण डाल सकता है और अस्वस्थ विवेक वाह्य सत्ता न रखने वाले काल्पनिक कर्तव्यों को गढ़ सकता है। अतएव अपनी आंतरिक क्रियाओं का वाह्य स्थितियों से उचित समन्वय कर ही सद्सद्विवेक को शिक्षित किया जा उकता है।

सद्सद्विवेक भेद ही नहीं करता वरन् आदेश भी देता है। मनुष्य को उस आदेश के अनुसार काम करना पड़ता है। सद्सद्विवेक के आदेशात्मक होने के कारण उसकी व्याख्या धार्मिक तौर से की जाती रही है और उसे दैवी संदेश समझा जाता रहा है।

फ्रायट के मनोविश्लेषण में सद्सद्विवेक की व्याख्या और ही तरह की जाती है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में फ्रायट ने सद्सद्विवेक को मानवी मस्तिष्क में बचपन के मानसिक मनोमालिन्य के कारण दबी शक्तियों का ढेर कहा था। ये दबी हुई शक्तियाँ मनुष्य के हर सद्सद्विवेक के अनुसार किए गए काम के पीछे होती हैं। उनसे अवसर विशेष पर विवेक की सबलता और दुर्बलता की व्याख्या तो की जा सकती है किंतु वे सद्सद्विवेक के नैतिक अधिकार की व्याख्या नहीं कर सकतीं। उनको कर्त्तव्य और विवेक के वाद विवाद में घसीटना भ्रामक हो सकता है। दर्शन के विद्यार्थी को तत्व और व्याख्या में धोखा नहीं खाना चाहिए। विशप बटलर का कहना है कि "हर चीज़ वही है जो वह है और वह दूसरी चीज़ नहीं है।" कर्त्तय कर्त्तव्य है और सद्सद्विवेक सद्सद्विवेक, चाहे मानवी प्रक्रियाओं के प्रसंग में उनका सम्बन्ध कैसा ही क्यों न हो। हर अध्ययन क्षेत्र अपनी विशेष समस्याओं के उपयुक्त ही समानता और भेद देखता है। मनोवैज्ञानिक अपनी समस्याओं की उपयुक्तता के अनुसार सद्सद्विवेक के कामों का वर्गीकरण कर लेता है किंतु नैतिक निश्चयों या नैतिक मूल्यों के सिद्धान्त निर्माण में अन्तर्प्रेरणाओं का वर्गीकरण और मनोवैज्ञानिक द्वारा उसकी व्याख्या उतनी आवश्यक नहीं है जितना आवश्यक यह है कि हम उस अन्तर्प्रेरणा का अनुभव किस तरह करते हैं और उससे किस तरह संचालित होते हैं। दूसरे के प्रति सच्चा रहना और उसे धोखा देना दोनों ही अन्तर्प्रेरणाएँ हैं किंतु नैतिक दृष्टि से उनका भेद निरपेक्ष है।

मनोविश्लेषण की व्याख्या के अनुसार यदि सद्सद्विवेक अपने दोषों पर आवरण डालना और उनकी क्षतिपूर्त्ति करना और बचपन से दबी

चली आई नियंत्रित करने वाले साधनों की विरोधी आक्रामक अन्तर्प्रेरणाएँ ही हैं तो हम विवेक के अनुसार काम क्यों करते हैं और हमें क्यों करना चाहिए ? और तब हमारे पास सद्सद्विवेक को शिक्षित और उन्नत करने की कौन सी कसौटी है ? क्षतिपूर्त्ति की सभी अन्तर्प्रेरणाओं का नैतिक समर्थन नहीं किया जा सकता; अपने साथियों के आदेशों और प्रवृत्तियों की आलोचनात्मक परीक्षा जरूरी है; आत्मविद्रोह आत्मसंयम की कोई कसौटी नहीं है। मनोविश्लेषण प्रणाली नैतिक प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती। कुछ लोग यह मानते हैं कि नैतिक प्रश्नों का कोई उत्तर हो ही नहीं सकता; उनके दृष्टिकोण का यदि तार्किक विस्तार किया जाय तो वह नैतिक तटस्थता की ओर ले जाता है। अन्य लोग इस भयंकर शून्यवादी परिणाम से डर कर अपना सद्सद्विवेक किसी व्यक्ति या संस्था को समर्पित कर देते हैं। जो लोग इस प्रश्न को गम्भीरता से लेते हैं और नैतिक अधिकार का आधार ढूँढ़ते हैं वे तीन वर्गों में आते हैं : अन्तर्साक्ष्यवादी (intuitionist) जो सद्सद्विवेक की व्याख्या मनुष्य में उचित और अनुचित को प्रत्यक्षतः जान सकने वाली अन्तरस्थ "नैतिक भावना" से करते हैं; बुद्धिवादी (rationalists) जो सद्सद्विवेक को वहीं तक ठीक मानते हैं जहाँ तक वह बुद्धि के अनुरूप होता है; और धार्मिक नैतिकवादी जो सद्सद्विवेक का मूल और प्रमाण एक उच्च शक्ति में मानते हैं।

२. नैतिक अन्तर्साक्ष्यवाद (Ethical Intuitiouism)

अन्तर्साक्ष्यवाद के अनुसार मनुष्य मूलभूत वास्तविकता को प्रत्यक्षतः जान सकता है और सत्य और असत्य में भेद कर सकता है। जिस प्रकार आँख संतरे को लाल देखती है और तिमिर रोगियों के संतरे को लाल न देख सकने से भी संतरे के लाल होने का बाध नहीं होता उसी प्रकार मस्तिष्क किसी काम को प्रशंसनीय और दोषपूर्ण देख लेता है और त्रुटियाँ होते रहने पर भी उसका बाध नहीं होता। नित्यप्रति

के अनुभव से स्पष्ट है कि लोगों का अधिकतर आचार अन्तर्साक्ष्य से संचालित होता है : कोई आदमी हमें ईमानदार 'लगता' है तो कोई बेईमान; कभी कभी उपर्युक्त तार्किक कारणों के अभाव में भी हम अपने कर्तव्य को 'देख' लेते हैं। हमारे अन्दर स्थिति का निश्चय कर लेने की क्षमता है, बाद में हम उसमें हेर फेर कर सकते हैं किंतु हेर फेर करना भी नया निश्चय करना है। इसमें बुद्धि की प्रक्रिया भी हो सकती है किंतु यदि उसे सीमित और नियंत्रित नहीं किया जायगा तो वह विरोधाभासों की ओर ले जायगी। नैतिक मामलों में उचित और अनुचित में भेद कर सकने की नैसर्गिक क्षमता होनी चाहिए।

ऊहात्मक भावना (The Illative Sense)

कार्डिनल न्यूमन (१८०१-१८६०) ने (अपनी पुस्तक 'ए ग्रॉमर आव् एसेन्ट' में) इस अन्तर्साक्ष्य को ऊहात्मक भावना कहा है जो किसी जटिल स्थिति की सम्पूर्णता को स्वभावतः समझ लेने का तरीका है। न्यूमन इस ऊहात्मक भावना पर नैतिक समस्याओं के प्रसंग में विचार न कर धार्मिक प्रसंग में ही करता है तो भी उसका प्रतिपादन इतना अच्छा है कि उसे अन्तर्साक्ष्यवाद के सम्प्रदायों का परिचय देने के लिए उद्धृत किया जा सकता है।

न्यूमन के अनुसार सारे ज्ञान में अनुज्ञा (assent) का एक अबौद्धिक (non-rational) तत्व होता है। तार्किक और अनुभवगत प्रमाण काफी नहीं होता; हमें उनसे तभी आश्वासन मिलता है जब हम उनसे आश्वासन लेने की इच्छा रखते हों। सैद्धान्तिक दृष्टि से हर प्रतिज्ञा (proposition) में उपपद्यता (probability) ही होती हैं। किंतु साधारणतया विश्वास का प्रमाण के ऊपर आधिक्य होता है। हम यह विश्वास क्यों करते हैं, न्यूमन पूछता है, कि ग्रेट ब्रिटेन एक द्वीप है? यहाँ पर यह प्रश्न नहीं है कि आकाश में जाकर या समुद्र के चारों ओर यात्रा कर ग्रेटब्रिटेन को द्वीप सिद्ध किया जा सकता है किंतु उसको द्वीप मानने का क्या आधार है? यदि हम विचार करना बन्द कर दें तो उसके

आधार निम्नलिखित होंगे : हमें बचपन में पढ़ाया गया कि ग्रेट ब्रिटेन एक द्वीप है और उसे नक्शे में भी द्वीप की तरह ही दिखाया जाता था; उसके द्वीप होने पर किसी ने कभी कोई सन्देह नहीं किया था वरन् सब लोग उसका द्वीप होना स्वीकार कर लेते थे। किंतु इन बातों में उपपद्यता ही हो सकती है, निश्चितता नहीं। यदि कोई हमसे यह कहे कि भारत ग्रेट ब्रिटेन से भूमि की एक पट्टी से जुड़ा हुआ है जो हमसे गुप्त रखने के कारण बताई नहीं जाती तो हम उसकी मूर्खता पर केवल हँस भर देंगे। किंतु न्यूमन पूछता है कि "क्या कोई अपनी इस निश्चितता के सारे कारणों का प्रमाण दे सकता है?"

न्यूमन इसका समाधान यों करता है कि उन स्थितियों में जहाँ विश्वास की प्रधानता रहती है निर्णय 'तर्कातीत' (supra logical) होता है जो "हमारी बौद्धिक शक्तियों का स्वस्थ और बाल की खाल निकालने से अधिक व्यापक काम है।" वह "बाल की खाल निकालने" के विरोध में "व्यक्ति की बुद्धि में निहित एक जीवित अधिकरण की प्रक्रिया है" किंतु फिर भी "वह तार्किकता का पूरक है।" वह निरवयव (simple) और एकतामय होता है और उससे सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। यह 'ऊहा' (Illative Sense) हर मनुष्य में होती है किंतु उसको न्यूटन, नैपोलियन आदि जैसे महान् व्यक्तियों में ही देखा जा सकता है। जब वह नैतिक मामलों में सक्रिय होती है तो उसे सद्सद्विवेक कहा जाता है। बुद्धि का पूरक होते हुए भी वह उचितानुचित को समझने का बुद्धि से परे साधन है।

"नैतिक भावना" का सम्प्रदाय (The "Moral Sense" School)

उपर्युक्त सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने ही अन्तर्सादयवाद का उपयोजन नीतिशास्त्र में किया था। उन लोगों में शैफ्ट्सबरी का तीसरा अर्ल (१६७१-१७१३) ही प्रमुख है।

मस्तिष्क, जो अन्य मस्तिष्कों का दर्शक है, अपनी आँख
और कान के बिना नहीं हो सकता; अपने आँख-कान से वह

> चीज़ों में भेद करता है और अपने सामने आने वाली हर भावना और विचार को तोलता है।[1]

मस्तिष्क जिस तरह से वाह्य जगत की वस्तुओं को स्पष्ट देखता है उसी तरह वह मानवी स्वभाव के अच्छे और बुरे, मानवी प्रेम में कटु और नम्र, मानवी आचार में पुण्य और पाप में भेद करता है। शैफ्टसबरी का विश्वास था कि मस्तिष्क सामाजिक मामलों में भी "सार्वजनिक या जातीय हित और अहित में तत्काल भेद कर लेता है।" जब मानवी इच्छाओं और प्रवृत्तियों पर आधारित मानवी आचार मस्तिष्क के सामने विभिन्न दृष्टिक्षेत्रों में आता है तो मस्तिष्क धोखा भी खा जाता है किंतु पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण में भी हृदय निश्चय करता रहता है—वह तटस्थ नहीं हो सकता। अतएव प्रत्येक नैतिक निर्णय में जोखिम भरा रहता है क्योंकि हर उचित और सही काम के वरण करने में "हृदय को एक नया उत्तरदायित्व लेना पड़ता है।" यदि वह इसमें लगातार असफल होता है तो वह भ्रष्ट है। उसे बुद्धि से संचालित और उन्नत किया जा सकता है और धर्म (Virtue) का आरोप वस्तुतः बौद्धिक प्राणी में ही किया जा सकता है। किंतु बुद्धि उचितानुचित में भेद करने की प्रवृत्ति को सुधार ही सकती है, उसका सृजन नहीं कर सकती।

इंग्लैंड में शैफ्टसबरी का सबसे प्रमुख अनुयायी जोज़ेफ बटलर (१६९२-१७५२) था।

> हर मनुष्य में सद्सद्विवेक का एक श्रेष्ठ सिद्धान्त है जो उसके हृदय के आन्तरिक सिद्धान्तों और उसके वाह्य कामों में भेद करता है, जो अपने ऊपर और उन कामों पर निर्णय देता है, जो कुछ कामों को अच्छा, न्यायसंगत और उचित बताता है और कुछ को बुरा और अनुचित; जो किसी की सम्मति या

---

१ ऐन इन्क्वायरी कंसर्निंग वर्चू ऑर मेरिट, पु० १, भाग २, खण्ड ३

परामर्श के बगैर ही अपने अधिकार का प्रयोग करता है और हरेक का उसके कामों के अनुसार या तो अनुमोदन करता है या तिरस्कार।[1]

सद्सद्विवेक के अलावा बटलर ने मानवी कामों के तीन उद्गम और माने हैं: "विशेष इच्छाएँ", विमर्शात्मक (reflective) आत्म-प्रेम और विमर्शात्मक उदारता। आत्म-प्रेम, उदारता और सद्सद्विवेक इच्छाओं को परखने और उनको नियंत्रित करने की कसौटी हैं और यही उनका भेद है। आत्मप्रेम स्वहित और उदारता परहित की ओर ले जाती है किंतु उन दोनों में सामञ्जस्य है। "हम अत्यधिक आत्मतुष्ट तभी हो सकते हैं जब हम उदार हों और आत्मप्रेम के कारण हम समाज के प्रति उचित व्यवहार करते हैं।" आत्मप्रेम और उदारता एक दूसरे के पूरक हैं और नैतिक काम को संभव बनाने वाले सहचारी स्वाभाविक उद्देश्य हैं। किंतु नैतिक काम में आवश्यक होते हुए भी वे ही सब कुछ नहीं हैं। सद्सद्विवेक मनुष्य के अन्दर तीसरा सिद्धान्त है जो अन्य सिद्धान्तों से स्वतंत्र है। वह सिद्धान्त सच्चरित्र मनुष्य में अन्य सिद्धान्तों को संचारित करता रहता है जिससे तीनों सिद्धान्तों में सामञ्जस्य रहता है। आत्म प्रेम चोरी को जहालत, उदारता उसे दूसरों का सुख छीनना और सद्सद्विवेक उसे निरपेक्षतः अनुचित और बुरा समझता है। "माता पिता अपने बच्चों से प्यार करते हैं, इसलिए वे उनकी चिंता करते हैं, उन्हें पढ़ाते-लिखाते हैं, उन्हें जीवन के लिए तैयार करते हैं। स्वाभाविक प्रेम यह सब कराता है और सोच विचार उन्हें ऐसा करना उचित बताता है। सोच विचार और स्वाभाविक प्रेम दोनों मिलकर एक दृढ़ सिद्धान्त बन जाते हैं जिससे माता पिता अपने बच्चों के लिए मुसीबतों में पड़कर भी सब कुछ करने को तैयार रहते हैं जो शायद वे केवल स्वाभाविक प्रेम के नाते ही न करते।"

---

१ बिशप बटलर, सर्मन २

दूसरी ओर चूँकि मानवी स्वभाव अपूर्ण है इसलिए अनेक अवसरों पर इन तीनों सिद्धान्तों में असहमति हो सकती है और ऐसे अवसरों पर सदसद्विवेक को ही प्रधान मानना चाहिए। चूँकि सदसद्विवेक मनुष्य के चिंतन का फल है और अपनी चिंतन शक्ति द्वारा ही मनुष्य का पशुओं से भेद है इसलिए बुद्धिमूलक आत्मप्रेम और उदारता के सिद्धान्तों से सद्सद्विवेक श्रेष्ठ है और उनके ऊपर उसका निरपेक्ष अधिकार है। बटलर कहता है :

> निर्णय, दिशा-निर्धारण और निरीक्षण के बिना सद्सद्विवेक की धारणा नहीं की जा सकती। सद्सद्विवेक मनुष्य को संचालित करने वाला सिद्धान्त है। सद्सद्विवेक में औचित्य और अधिकार के समान यदि दृढ़ता और शक्ति भी होती तो वह निरपेक्ष रूप से सारे संसार का संचालन करता।

सत्य को धर्म मानने का सिद्धान्त
(The Theory of Virtue as Truth)

विलियम वोलैस्टन (१६५९-१७२४) ने ("दि रिलीजन आव नेचर डेलीनिएटेड" नामक अपनी पुस्तक में) उचित और अनुचित का सत्य और असत्य के साथ तादात्म्य स्थापित कर नैतिक अन्तर्साक्ष्य को विषयसापेक्ष (objective) बनाने की चेष्टा की है : अपने सिद्धान्त की दूसरी, तीसरी और चौथी मान्यताओं में वह उस तादात्म्य का तार्किक आधार बताता है :

> १. जिस काम को नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा कहा जाता है उसके कर्त्ता को स्वतंत्र और चिंतनशील होना चाहिए...
>
> २. यथातथ चीज़ों को अभिव्यक्त करने वाली प्रतिज्ञाएँ (propositions) ही सत्य होती हैं या सत्य जिन शब्दों या संकेतों द्वारा चीज़ों की अभिव्यक्ति करता है वे शब्द और संकेत चीज़ों के अनुरूप होते हैं (परिभाषा)।

३. कामों, शब्दों या अन्य प्रतिज्ञाओं से एक सत्य प्रतिज्ञा या चीज़ों की अनुरूपता से इनकार किया जा सकता है......

४. सत्य प्रतिज्ञा में बाधक बनने वाला या चीज़ों की अनुरूपता को अस्वीकार करने वाला कोई काम उचित नहीं हो सकता।

वोलैस्टन की उचित और अनुचित की परिभाषा का सिद्धान्त और आधार उसकी तीसरी मान्यता में ही ज्वलन्त रूप से मिलता है। वोलैस्टन-व्याख्या करता है :

> यह निश्चित है कि बहुत से कामों और संकेतों में अर्थ होता है। रोने, हँसने आदि को हर मनुष्य समझता है; वे एक प्रकार की व्यापक भाषाएँ हैं...मनुष्य के आचारीय जीवन में ऐसे बहुत से काम हैं जिनका प्रकृति में बड़ा महत्व है और उनके इस महत्व को कोई तटस्थ निर्णायक भी देख सकता है; उनमें कुछ ऐसी बातें भी निहित होती हैं जिन्हें बड़ी आसानी से समझा जा सकता है मानो वे शब्दों में व्यक्त की गई हों। अतएव ऐसे काम जो कुछ बताते हैं यदि वह न हो तो उनसे सत्य बाधित हो जाता है।

शब्दों की भाँति मनुष्य के कामों में भी सार्थकता मानना नैतिक सिद्धान्त को एक आवश्यक देन है। वोलैस्टन का एक उदाहरण लीजिए: "यदि सैनिकों का एक समूह किसी दूसरे समूह को आते देखकर उस पर गोली चला दे तो इसका अर्थ यही होगा कि दूसरा समूह शत्रुओं का है; और यदि वह समूह शत्रुओं का न हो तो सैनिक भाषा में उस पर गोली चलाना क्या अनुचित नहीं कहा जायगा ?" यदि गोली गलती से भी चला दी जाय तो भी वह अनुचित कहा जायगा; अनुचित अनुचित ही है चाहे उसके पीछे कोई भी इरादा या अभिप्राय क्यों न रहा हो। दोनों ही बातों की सत्यता या असत्यता कर्त्ता के ज्ञान या अज्ञान पर निर्भर नहीं करती। दोनों ही बातें सार्थक हैं और उनका अर्थ समझा और बताया जा सकता

है और "जिस वस्तु में अर्थ होता है वही सत्य या असत्य हो सकती है।" इससे यह नतीजा निकलता है कि "कोई मनुष्य नैतिक हित या अहित (या उचित और अनुचित) को शब्दों की तरह कामों से भी प्रकट कर सकता है।"

किंतु सच्चे और झूठे नैतिक निर्णय में भेद कर सकने की हमारे पास कौन सी कसौटी है? वोलैस्टन विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों द्वारा प्रस्तुत की गई कसौटियों पर विचार करता है। प्रकृति का अनुसरण किया जा सकता है यदि उसका अर्थ "वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार (अर्थात् उनको यथातथ मानकर) काम करना हो।" किंतु अक्सर प्रकृति के अनुसरण का दूसरा ही अर्थ लगाया जाता है और लोग अपनी ही प्रकृति का अनुसरण करने लगते हैं और चूँकि उनके स्वभाव में पशुता का अंश भी होता है इसलिए "वे एक ऐसे पथप्रदर्शक को चुनते हैं जो उन्हें भ्रष्ट कर सकता है क्योंकि पशुता का अंश बौद्धिक अंश पर व्यापक हो सकता है।" तो क्या बुद्धि को कसौटी माना जाय? उचित तर्क आवश्यक है यदि उससे हमारे बौद्धिक अधिकरणों का सही प्रयोग होता है तो। किंतु अक्सर तर्क को बड़े कड़े अधिकार दे दिए जाते हैं जिससे हरेक अपने ही तर्क को उचित समझता है। इसके अलावा नैतिक सत्य चिंतन से ही उपलब्ध न होकर तथातथ बातों से भी उपलब्ध हो जाते हैं। "हमें चीज़ों को उनके अपने स्वरूप में स्वीकार करना चाहिए चाहे उनका ज्ञान हमें किसी तरह भी क्यों न हो।" बुद्धिवादी तर्क के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिलने वाले सत्यों की अवहेलना कर सकता है। तब क्या कसौटी को मनुष्य जाति द्वारा अनुभव किए गए जन्मजात नैतिक प्रत्ययों (Ideas) में मानना चाहिए? जो लोग अपनी समझ में जन्मजात सामान्य सिद्धान्तों से अच्छे बुरे का भेद करते हैं "वे कच्ची नैतिक नींव रखते हैं। जन्मजात सिद्धान्तों की सत्ता में सन्देह किया जा सकता है और चूँकि मनुष्यों की भावनाएँ स्थाई नहीं हैं अतएव इतने महत्वपूर्ण भेद के लिए उन पर विश्वास करना ठीक नहीं है।"

सुख भी हित की कसौटी नहीं हो सकता। सुख क्षणभंगुर और अनिश्चित है और साथ ही साथ सुख मनुष्य को वासनाप्रधान भी बना सकता है और तब नियंत्रण का काम धर्म ही कर सकता है। नैतिकता के ये सभी आधार परीक्षा करने पर दृढ़ साबित नहीं होते। "मनुष्यों के कामों की यथातथ्य बातों से संगति होना ही" अच्छे और बुरे की एकमात्र युक्ति-मूलक, व्यावहारिक और स्वीकार योग्य कसौटी है।

वोलैस्टन की कसौटी की मुख्य बात किसी काम की उचितानुचित की मात्रा की परख सुख या प्रथा जैसी सैद्धान्तिक कसौटियों से न करके स्वयं काम की विशेषता से ही करना है। यदि यह पूछा जाय कि उचितानुचित को अबुद्धिमूलक अन्तर्साक्ष्य (जैसा शैफ्ट्सबरी मानता था) से या प्रेक्षा (reason) से (जैसा कि बाद में कांट ने माना) जाना जाता है तो वोलैस्टन का उत्तर यह होगा कि हर स्थिति का एक ही उत्तर नहीं हो सकता और फिर यह प्रश्न भी आवश्यक न होकर गौण ही है। नीतिशास्त्र का प्रमुख प्रश्न काम का गुण है, उस गुण का पता कैसे लगाया जाता है; यह नहीं। जो लोग अपने तर्क का अधिक प्रयोग करते हैं उन्हें नैतिक हित बुद्धि की उपज लगेगा। कुछ लोगों में वरणीय काम के परिणाम आदि को तत्काल जान लेने की अत्यन्त विकसित अन्तर्दृष्टि होती है। नैतिक अन्तर्दृष्टि का मूल दैवी है या जैविक (biological) यह वर्तमान खोज के बाहर की बात है यद्यपि वोलैस्टन चर्च का सदस्य होने से नैतिक अन्तर्दृष्टि का मूल दैवी मानता था। वह हमारी नैतिक अन्तर्दृष्टि की प्रामाणिकता पर ज़ोर देता है, उसके मूल पर नहीं।

नैतिक कामों के ठीक अन्दाज़ के लिए "देश, काल, आकांक्षित साध्यों और परिणामों पर विचार करना चाहिए।" नैतिक दृष्टि से निर्णय करने के लिए किसी काम पर उसके समुचित प्रसंग में विचार करना चाहिए। और चूँकि कामों को "स्थिति की सत्यता" की संगति से परखा जाता है इसलिए समुचित प्रसंग में वे सभी बातें आ जाती हैं "जिन्हें तथ्य या व्यवहार से अस्वीकृत किया जा सकता है।" यदि कोई व्यक्ति

घोड़ा चुराता है तो उसका काम ही उसे यह बताता है कि उसने उचित नहीं किया क्योंकि घोड़ा उसका नहीं था और उसे दिया भी नहीं गया था। यदि स्थिति को केवल सुख और दुख से ही परखा जाय तो हो सकता है कि घोड़ा चुराने वाले को अधिक सुख मिला हो और घोड़े के स्वामी को बहुत से घोड़े होने के कारण अधिक दुख न हुआ हो। इन परिस्थितियों में सुखवादी आधार पर चोरी को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता जब तक कि आगे चलकर समाज पर उसका बुरा असर न दिखाया जाय। छोटी मोटी चोरियों में मनुष्य को समाज की क्षति और दुख से अधिक सुख मिलता है। सुख और दुख के संतुलन में उपपद्यता ही मानी जा सकती है किंतु उचितानुचित के नैतिक निर्णय में निश्चितता होनी चाहिए। चूँकि नैतिक निर्णय निरपेक्ष और तत्कालिक हो सकता है इसलिए वह तर्क से सर्वथा अलग है। घोड़े की चोरी करना अनुचित माना जाता है और इसकी युक्ति स्थिति के स्वभाव में ही मिल सकती है, परिणामों (जैसे सुख) या कारणों (जैसे उद्देश्यों आदि) में नहीं। घोड़े के चुराने में सवार, घोड़े और स्वामी के सम्बन्ध में एक ऐसा दावा किया जाता है जो सत्य नहीं है। अतएव काम अनुचित है।

तब क्या वोलैस्टन किसी काम के नैतिक निर्णय में उसके परिणामों को लेने से इनकार करता है? पूरी तरह से नहीं। कृत्रिम सिद्धान्तीकरण के अलावा किसी स्थिति को उसके परिणामों से अलग करके देख सकना सम्भव नहीं है। स्थिति को प्रसंगोचित होना चाहिए। काम जिन परिणामों के बारे में कुछ निश्चय करता है वे ही प्रसंगोचित होते हैं। घोड़े को चुराने वाला बाद में धनी बनकर बहुत से लाभदायक काम कर सकता है। किंतु यदि इस परिणाम को पहले ही से नहीं देखा जा सकता तो वह काम का परिणाम होकर भी संयोग मात्र ही होगा। चूँकि काम से उसका निश्चय नहीं किया जा सकेगा इसलिए वह नैतिक निर्णय में प्रसंगोचित नहीं होगा। मान लीजिए कि एक भिखारी अपने और अपने परिवार का पेट पालने के लिए रोटी चुराता है। ऐसी हालत में परिणाम काम के

प्रसंगानुकूल होगा क्योंकि वह काम का एक आवश्यक अंग होगा। किसी चीज़ को हथिया लेने का नाम ही चोरी नहीं है। जिन कामों के बारे में नैतिक निर्णय किया जाता है वे बड़े जटिल होते हैं। तब उस काम की विशद और पूर्ण व्याख्या करनी पड़ती है। भूखे व्यक्ति के लिए रोटी का अधिकार सम्पत्ति-अधिकार से अधिक महत्व का है। वह जो कुछ करता है वह उसके काम की माँग है। तब क्या चोरी करना नैतिक है? नहीं, क्योंकि रोटी चुराने में और भी प्रसंग हैं। रोटी चुराने में रोटी के अधिकार का प्रसंग गलत होने से रोटी चुराना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

किंतु तब काम की सम्पूर्णता का नैतिक निर्णय कैसे किया जा सकता है? भूखे आदमी के लिए रोटी चुराना उचित है अथवा अनुचित? इसका उत्तर वोलैस्टन की नवीं मान्यता में निहित है: "(निर्णय और वरण करने योग्य) हर काम और सत्य में हस्तक्षेप करने वाले सारे अतिक्रम (अर्थात् किसी सच्ची प्रतिज्ञा के सत्य से इनकार करना या किसी वस्तु को वैसा न मानना जैसी कि वह हो) नैतिक दृष्टि से किसी न किसी अर्थ में पाप हैं।" 'किसी न किसी अर्थ में' इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए। किसी चीज़ की चोरी चूँकि वह गलत समर्थन करती है इसलिए उस अर्थ में अनुचित है। यदि चोरी को किसी बड़े काम का भाग समझा जाय तो वह सारा काम "किसी न किसी अर्थ में पापमय होगा।" स्थिति को पूरी तरह से समझना उस पर नैतिक समर्थन या असमर्थन करके उसे हटा देना नहीं है वरन् स्पष्ट रूप से यह देखना है कि समर्थन या असमर्थन कहाँ और किस हद तक किया जा सकता है। ऐसा काम की नैतिक अच्छाई और बुराई के अनुपात का सही अन्दाज़ लगाकर किया जाता है। काम की नैतिक अच्छाई और बुराई हमारे इस निर्णय पर निर्भर होती है कि वह काम किसी सच्ची प्रतिज्ञा (proposition) का बाध कहाँ तक करता है या नहीं करता।

क्या नैतिक भावना विश्वसनीय है?

व्यक्ति और समाज के सुखी जीवन के लिए अविकल अन्तर्दृष्टि

बहुत आवश्यक है। अन्तर्दृष्टि को चाहे बौद्धिक विवेक का निर्णय, चाहे परिपक्व मनोभौतिक प्रवृत्ति, चाहे किसी श्रेष्ठ शक्ति की प्रेरणा आदि कोई भी नाम क्यों न दिया जाय किंतु मानवी जीवन में उसकी बड़ी आवश्यकता है और उसके बिना मनुष्य के जीवन में मनुष्यता और निश्चयात्मकता नहीं रह सकती। नैतिक निश्चय करने के पूर्व ही यदि उसके न्यायोचित होने का पक्का प्रमाण माँगा जाय तो संभव है कि कोई काम नैतिक न रहे। हर नैतिक निश्चय में एक असंरक्षित विश्वास रहता है, हर नैतिक निश्चय में "नैतिक जोखिम" और "प्रमाण के ऊपर विश्वास का आधिक्य" रहता है।

दूसरी ओर नैतिक चिंतन को यदि विषयसापेक्ष (objective) होना है तो किसी व्यक्ति का क्षणस्थाई विश्वास नैतिक आग्रह का अन्तिम शब्द नहीं माना जा सकता। गाढ़े समय किए गए नैतिक निश्चय में किसी व्यक्ति का विश्वास माना जा सकता है किंतु उस क्षणिक निश्चय को सिद्धान्त या मत बना देना नैतिकता के विकास में रोड़ा अटका देना है। नैतिक अन्तर्दृष्टि को परिष्कृत, शिक्षित और संयमित किया जा सकता है; किंतु ऐसा करने की कसौटी क्या है? प्रश्न उठाना उत्तर देने से ज्यादा आसान है, किंतु अगले अध्यायों में इस प्रश्न के विभिन्न उत्तरों पर विचार किया जायगा।

नैतिक बुद्धिपरतावाद

एक अर्थ में अन्तर्सांद्ययवाद (intuitionism) नैतिक कर्तव्य पर अंतिम शब्द कहता है, किंतु दूसरे अर्थ में वह अपर्याप्त है। परम्परागत नियमों का पालन करने के अलावा सच्चे नैतिक कर्तव्य को पूरी तरह मनन करके जानना चाहिये; कर्तव्य का यह प्राग्नुभव ज्ञान ही नैतिक जीवन के विकास और स्थायित्व का पक्का आधार हो सकता है। किन्तु यह कोई नहीं कहेगा कि कर्तव्य का सारा प्राग्नुभव ज्ञान समान रूप से हितकर है। वैसा मानना नैतिक तटस्थतावाद का समर्थन करना होगा। माना कि हर व्यक्ति में अच्छे और बुरे को परख सकने की नैतिक भावना होती है किंतु सभी की नैतिक भावनाएँ एक सी नहीं होतीं। जब सदसद्विवेक अस्पष्ट हो तब हम निर्णय कैसे करें? जब अन्तरस्थ नैतिक भावनाओं में असहमति हो तो हम उनमें से किसको प्रामाणिक मानें? बुद्धिपरतावाद के अनुसार सदसद्विवेक प्रामाणिक तभी होता है जब वह बुद्धिमूलक स्वर से बोलता है, उसके प्रामाणिक आदेशों में (१) निरपेक्ष आत्म-संगति और (२) आदत और प्रवृत्तियों आदि अनुभवगत बातों से पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

इस अध्याय में स्टोइकों और कांट के बुद्धिपरतावाद के दो रूपों का विवेचन किया गया है। प्राचीन और अर्वाचीन बौद्धिक स्वभाव के भेद के अतिरिक्त स्टोइकों का बुद्धिपरतावाद उनके विश्व के स्वभाव विषयक कुछ विश्वासों पर आधारित है और कांट का बुद्धिपरतावाद विश्व-विषयक धारणाओं से स्वतन्त्र है।

१ स्टोइकवाद (Stoicism)

सुकरात की मृत्यु के बाद ही एथेन्स के ऐन्टिस्थनीज़ नामक दार्शनिक

ने साइनोसार्गीज़ (Cynosarges) नाम के जिम्नेज़ियम में अपने सम्प्रदाय की स्थापना की जिससे वह और उसके अनुयायी सिनिक (Cynic) कहे जाने लगे। ऐन्टिस्थनीज़ अपने को सुकरात का अनुयायी कहता था किंतु दोनों की शिक्षाओं में ऊपरी समानता होते हुए भी गम्भीर भेद था। ऐन्टिस्थनीज़ पूर्ण विरागी था। इच्छाओं की पूर्त्ति न कर उनका दमन करना ही ऐन्टिस्थनीज़ के अनुसार अच्छा जीवन था। उसका कहना था कि "मैं सुख पाने की अपेक्षा पागल हो जाना अच्छा समझता हूँ।" दर्शन से उसे मनसवार्तालाप कर सकने की क्षमता मिली थी और बुद्धिमान व्यक्ति का सन्तोष मनन में ही हो सकता है, सुख में नहीं।

गुरु तो गुड़ ही रहा किंतु उसके चेले डायोजिनीज़ ने शक्कर होने की चेष्टा तक कर डाली। "प्रकृति के अनुसार रहो" यही उसका मुख्य सिद्धांत था और उसके प्रयोगानुसार इस सिद्धान्त का अर्थ परम्पराओं को तोड़ देना था। कहा जाता है कि उसे परिस्थितियों से संयोजन कर सकने की शिक्षा एक चूहे से मिली थी जो लेटने के लिये इधर उधर दौड़ कर कोई सुरक्षित स्थान ढूँढ़ रहा था और उसे न तो अँधेरे का डर था और न जीवन की विलासिता की परवाह। किंवदन्तियों के अनुसार डायोजिनीज़ खुले में एक टब में सोता था, अपना खाना एक थैले में रखता था और समय पड़ने पर भीख माँगने से भी न लजाता था। उसका भीख माँगना भी विचित्र था। एक आदमी को आनाकानी करते देख उसने कहा था, "प्रिय मित्र मैं भीख खाने के लिए माँग रहा हूँ, कफ़न के लिए नहीं।" एक बार वह मूर्त्ति से भीख माँग रहा था जिससे उसे खाली हाथ लौटने का अभ्यास हो सके। जब सिकन्दर महान् गद्दी पर बैठा तो डायोजिनीज़ की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी थी और वह लगभग सत्तर वर्ष का था। एक दिन जब डायोजिनीज टब में लेटा धूप खा रहा था सिकन्दर लावलश्कर के साथ उससे मिलने आया। "मैं सिकन्दर महान् हूँ", उसने कहा। "और मैं" डायोजिनीज ने शांत भाव से उत्तर दिया, "मैं डायोजिनीज हूं।" "तुम मुझसे डरते नहीं?" सिकन्दर ने पूछा। "क्यों तुम क्या हो,

अच्छे या बुरे ?" "अच्छा हूँ ।" "तो अच्छी चीज से कौन मूर्ख डरेगा ?" डायोजिनीज़ ने उत्तर दिया। इस उत्तर से प्रभावित होकर सिकन्दर ने कहा, "तुम मुझसे जो चीज़ माँगोगे वह मैं तुम्हें दूँगा।" डायोजिनीज़ ने कहा "तो कृपया ज़रा धूप छोड़ दो।"

इन बातों से प्रकट होने वाली स्वतन्त्र प्रियता और भोग विलास के प्रति उदासीनता ही स्टोइक सम्प्रदाय के विशेष गुण थे, जिसकी स्थापना कुछ दशकों के बाद की गई थी। किंतु सिनिक लोग जहाँ अपनी विरक्ति का निरर्थक प्रदर्शन करने में लुत्फ लेते थे वहाँ स्टोइक लोग उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। उन्होंने सिनिकों के परम्परा के विरोध को कर्तव्य का भावात्मक नियम बना दिया और उस नियम का आधार संसार को संचालित करने वाले नियमों के ज्ञान को बनाया। संसार का व्यापार उनके लिए बुद्धिपरक था और मानवी आचार भी उसी का एक भाग था। आजकल यद्यपि रोमन सम्राट मार्कस आउरेलियस और यूनानी एपिक्टीटस ही स्टोइकवाद के प्रतिपादक माने जाते हैं किंतु स्टोइक सम्प्रदाय का जन्मदाता साइप्रस द्वीप का जीनो नामक व्यक्ति था। वह लगभग ३०० ई० पूर्व एथेन्स आया था और उसने व्याख्यान देने के लिए एक बारादरी (यूनानी भाषा में स्टोआ) किराए पर ले ली थी जिससे उसे और उसके अनुयायियों को 'स्टोआ के लोग' या 'स्टोइक' कहा जाने लगा।

बुद्धिपरतावाद की तार्किक नींवें

स्टोइक दर्शन के नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों में जगत की प्रकृति और ज्ञान विषयक धारणाओं का भी समावेश है। स्टोइकों की ज्ञान विषयक धारणा का पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य सत्य को कैसे पा सकते हैं। सुकरात के समय के सोफिस्टों के दार्शनिक सम्प्रदाय ने इन्द्रिय-प्रत्यक्षों की सापेक्षता और भ्रामकता के आधार पर सत्य को पा सकने की संभावना में अविश्वास प्रकट किया था क्योंकि सत्य इन्द्रिय-प्रत्यक्षों पर ही निर्भर है। प्लेटो ने सोफिस्टों के उत्तर में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भ्रामकता से इनकार नहीं किया। इन्द्रिय-अनुभव भ्रामक होते हैं किंतु फिर भी सत्य का ज्ञान

संभव है यदि हम उसे अनुभव में न ढूँढ़ कर मूलभूत रूपों (Forms) और सम्बन्धों (Relations) में देखें। इसके विपरीत स्टोइक यह मानते थे कि सत्य को जाना जा सकता है किंतु उसका ज्ञान प्रामाणिक तभी होता है जब वह 'अनुभव' पर आधारित हो। प्रत्यक्ष करने के समय मनस पर वाह्य वस्तुओं का जो तत्कालिक प्रतिबिम्ब पड़ता है वही अनुभव होता है। अनुभव हमें मानने पर विवश कर देता है। अनुभव आत्मा की वह अवस्था है जहाँ विषयि (Subject) के साथ विषय (Object) का ज्ञान भी होता है। किंतु जैसा कि भ्रम आदि से स्पष्ट है यह ज्ञान गलत भी होता है। किंतु बुद्धिमान् व्यक्ति जिस अनुभव का अर्थ अस्पष्ट हो उसे स्वीकार न कर गलती से बच सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बुद्धिमान व्यक्ति गलती नहीं करता क्योंकि कभी-कभी उसे स्थिति का अपर्याप्त ज्ञान होने पर भी काम करने को बाध्य होना पड़ता है, किंतु इस हालत में उसको दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह परिस्थिति से लाचार था। इसको एक कहानी से बताया गया है। राजा टालमी ने ज़ीनों के एक शिष्य को दावत में एक मोम का अनार खाने को दिया। जब उसने मोम का अनार अपने मुँह में रक्खा तो टालमी ने हँसते हुए उसे गलत अनुभव को स्वीकार कर लेने के लिए दोष दिया। किंतु जीनों के शिष्य ने उत्तर दिया कि उसने अनार की सत्यता को स्वीकार न कर उसके सत्य होने की संभावना को ही स्वीकार किया था। उसने स्टोइकों के आचारीय नियम के अनुसार परिस्थिति वश ही अनार खाया था किंतु इसमें उसकी मानसिक स्वीकृति नहीं थी।

प्रकृति में प्रयोजनात्मक सिद्धान्त (The Telic Principle in Nature)

एपीक्यूरस के परमाणुवाद के विरोध में स्टोइक विश्व को जड़ परमाणुओं का समुदाय न मानकर अनुप्राणित आंगिक (organic) एकता मानते थे। यदि हम विश्व के किसी भाग को अलग से देखें तो

वह अपूर्ण, संयोगात्मक और खण्डित लग सकता है। ये दोष विश्व की विशेषताएँ न होकर हमारे द्वारा ग्रहण किये गए संवेदनों (Impressions) की विशेषताएँ हैं। विश्व में सार्थकता है, एक विशद और व्यापक योजना है जिसे बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। संगीत के स्वर यहाँ वहाँ से सुनने में निरर्थक लगते हैं किंतु पूरे संगीत में संगीतकार की भावना की एकतापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह हर स्थिति सम्पूर्ण विश्व के प्रसङ्ग में देखने पर ही बुद्धिमूलक लग सकती है। हमें हरेक संवेदन पर इसी दृष्टि से विचार कर उसे विश्व के बुद्धिमूलक सिद्धान्त की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति समझना चाहिए। स्टोइकों की व्याख्या प्रयोजनवादी और एकतावादी होती है।

विश्व की बुद्धिमूलक व्याख्या करने पर स्टोइक विश्व को अच्छा और मंगलमय भी मानते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति के लिए बुद्धिमूलकता से बढ़कर और कौन बात हो सकती है? जो कुछ बुद्धिमूलक है वह मंगलकारी है और चूँकि विश्वपूर्ण रूप से बुद्धिमूलक है इसलिए वह पूर्णरूप से मंगलमय है और पाप की कोई वास्तविकता नहीं है। पाप की अवास्तविकता बहुतों के लिए परेशान करने वाला विरोधाभास है और वे स्टोइकों की इस बात को नहीं मानते। वे पूछते हैं कि जब हम अपने चारों ओर असंख्य मनुष्यों को दुखी, रोगग्रस्त, भूखा और मरणशील देखते हैं तो पाप की वास्तविकता में कैसे सन्देह किया जा सकता है? स्टोइकों का उत्तर है कि ये बातें पाप तब लगती हैं जब हम गलत रूप से उनके सीमित संवेदनों को अपनी स्वीकृति दे देते हैं। यदि हमारा पैर चिंतन की क्षमता रखता तो वह कीचड़ में जाना कभी पसन्द नहीं करता किंतु मनुष्य के लिए "कभी कभी पैर को कीचड़ में ले जाना या पूरे शरीर के हित के लिए समय पड़ने पर उसे कटवा भी डालना ठीक है। नहीं तो वह सच्चे अर्थ में पैर नहीं है"—क्योंकि तब उसमें पैरपन नहीं रहता जो पूरे शरीर का एक भाग बने रहने में ही होता है। इसी प्रकार अपने को संसार से अलग करके देखने वाला व्यक्ति आयु अवधि, धन और स्वास्थ्य को

अपने लिए आवश्यक मानकर हितकर समझेगा। किंतु यदि वह इसे समझ ले कि वह सार्वभौम प्रकृति के विशाल बुद्धिमूलक ढाँचे का एक क्षुद्र अंग ही है तो वह "युक्तिमूलक संवेदन" ही ग्रहण करेगा और यह समझ सकेगा कि धन, गरीबी और अकाल मृत्यु विश्व योजना की अभिव्यक्ति होने के नाते मंगलमय हैं। रोमन स्टोइक पोसीडोनियस जब एक दुष्ट रोग से पीड़ित था तो उसने कहा, "ऐ दुख! तू मेरे साथ बुरा से भी बुरा कर किंतु तो भी तू मुझे यह नहीं मनवा सकता कि तू पाप है।"

नैतिक आदर्श

स्टोइकों की नैतिकता में हाथ की बातों और हाथ से बाहर की बातों का भेद किया गया है। संवेदन ग्रहण करना हमारे हाथ की बात नहीं है किंतु उनका प्रयोग करना हमारे हाथ की बात है। जब सम्राट् किसी व्यक्ति को मृत्युदंड देता है तो उसके मनस् में हर प्रकार के संवेदन आते हैं। उसके कानों में सम्राट् की आज्ञा गूँजती है और बाद में मृत्यु के सारे दृश्य उसके सामने नाच उठते हैं। इन संवेदनों पर उसका कोई अधिकार नहीं होता; उनका कारण बाह्य होता है। उसके हाथ में अपने भाग्य के सामने घुटने टेक देना और उसको पाप समझना या उसे विश्व की पूर्णता का एक अंश मानकर अपनी मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करने का निश्चय ही है।

> इन परिस्थितियों में हमें किसकी सहायता लेनी चाहिए? हमें हमारा क्या है और क्या नहीं है, हमें क्या करने की आज्ञा है और क्या करने की नहीं? इसी का सहारा लेना चाहिए। हमें मर जाना चाहिए; ठीक है, किंतु क्या हमें कराहते हुए मरना चाहिए? क्या बन्दी बनने में पश्चाताप करना चाहिए? निर्वासन के समय हमें खुशी से मुस्कराते हुए जाने से कौन रोकता है? गुप्त भेदों को खोल देना हमारे हाथ की बात है किंतु हमें वैसा करना नहीं चाहिए। हमें गुप्त भेद न बताने के लिए बन्दी बनाया जा सकता है किंतु केवल हमारे शरीर को ही, हमारी वरण करने

की शक्ति को देवता तक बन्दी नहीं बना सकते। हमारा गला काटा जा सकता है किंतु हम यह कब कहते हैं कि हमारा ही गला ऐसा अनोखा है जिसे काटा नहीं जा सकता। दार्शनिकों को इन्हीं बातों का अध्ययन करना चाहिए, और उन्हें नित्य लिखकर उनका अभ्यास करना चाहिए।[1]

परिस्थितियों के प्रति किसी विशेष प्रवृत्ति का वरण कर सकने की शक्ति ही नैतिक आदर्श को संभव और अनिवार्य बनाती है। स्टोइकों का नैतिक आदर्श उनकी प्रकृति की धारणा पर आधारित है। प्रकृति बुद्धिमूलक है और बुद्धिमूलक होने से मंगलमय है। अतएव मनुष्यों को प्रकृति के अनुसार रहना चाहिए अर्थात् बुद्धि के अनुसार काम करना चाहिए। इसका अर्थ यथातथ कर्तव्यों के रूप में क्या है? स्टोइकों के अनुसार रोग, मृत्यु आदि सारी परिस्थितियाँ सार्वभौम पूर्णता का अंग होने से मंगलमय हैं अतएव उन्हें निष्काम भाव से स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि विश्व के सभी भाग बुद्धिमूलक हैं तथापि मनुष्य एक विशिष्ट अर्थ में बुद्धिमूलक है क्योंकि उसमें अन्य प्राणियों के विपरीत अपने लिए बुद्धि का सक्रिय प्रयोग कर सकने की शक्ति है। अतएव बुद्धि ही मनुष्य को संचालित करनेवाला सिद्धान्त और उसकी आत्मा की स्वस्थता है। बुद्धि की शुद्ध क्रिया में अड़चन डाल देने के कारण मनोभाव पाप हैं और उन्हें निर्दयता से निकाल फेंकना चाहिए। दया करना भी पाप है, उसका स्थान सौम्य उदारता को लेना चाहिए। अपनी सौम्यता को बनाए रखने के लिए स्टोइक को अपने कर्तव्यों का पालन इच्छारहित भाव से करना चाहिए। अपने साथियों की सहायता करने के लिए उसे सब कुछ करना चाहिए किंतु असफल होने पर उसे शोच नहीं करना चाहिए। उसके लिए हर परिस्थिति में ज्यादा से ज्यादा बुद्धिमूलक ढंग से व्यवहार करना ही मुख्य बात है: 'यही उसका कर्त्तव्य है और यदि उसने अपने कर्तव्य

---

१ डिस्कोर्सेज़ आव् एपिक्टीटस, पु० १, परि० १

का भरसक पालन किया है तो उसे उसके परिणामों की कोई चिन्ता नहीं करना चाहिए।

एपीक्यूरसीय लोगों के विपरीत स्टोइक कुछ राजनीतिक कर्तव्यों को मानते थे। किंतु स्टोइक सम्राट मार्कस आउरेलियस की भाँति वे अपने समय की राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी अपने आप को संसार भर का नागरिक मानते थे और उनका नैतिक सम्बन्ध अपने राष्ट्र ही से न होकर सारी मनुष्य जाति से होता था। एक सम्राट की हैसियत से आउरेलियस के रोम के प्रति कुछ विशिष्ट कर्तव्य थे किंतु यह सब तो उन परिस्थितियों के कारण था जिनमें वह जन्मा था। उसे रोम के लिए कुछ विशेष काम करने पड़ते थे किंतु वह अपने मन में उनको कभी उचित नहीं समझता था। रोम और अपने साम्राज्य को लाभ पहुँचाना उसका कर्तव्य था किंतु यदि वह इसमें असफल होता था तो यह जानता था कि उसकी असफलता परिस्थितियों पर निर्भर करती है और चूँकि परिस्थितियाँ सार्वभौम बुद्धि की अभिव्यक्ति हैं इसलिए उसकी असफलता भी आवश्यक रूप से मंगलमय है। इस प्रकार सार्वभौम बुद्धि (Universal Reason) या ईश्वर द्वारा दिए गए अपनी विशेष स्थिति के सारे कर्तव्यों को निभाते हुए भी स्टोइक लोग अपने मन को निष्काम रख अपनी स्वतंत्रता बनाए रहते थे। परिणामों को ईश्वर के भरोसे छोड़ देना चाहिए; व्यक्ति को अपने उद्देश्यों की बुद्धिमूलकता और औचित्य का ही उत्तरदायी होना चाहिए।

आलोचनात्मक विचार

बहुत लोगों को स्टोइकों की नैतिकता अत्यन्त कठोर लगेगी। अत्यधिक कठोरता की, यदि कोई उसे अपने प्रति ही बरते, आलोचना नहीं की जा सकती। और यह स्टोइकों की विशेषता थी कि वे दूसरों के प्रति असहिष्णु नहीं थे। जब कोई दूसरा आदमी अबुद्धिमूलक ढंग से काम करता था तो वे केवल उसका अनुमोदन नहीं करते थे किंतु वे तिरस्कार कभी नहीं करते थे क्योंकि क्या हर आदमी अपने स्वभाव विशेष की

आवश्यकता के अनुसार ही काम नहीं करता ? अतएव स्टोइक लोग प्रकृति की घटनाओं के समान ही सौम्य भाव से दूसरों के व्यवहार को भी देखते थे; क्योंकि मनुष्य के काम भी एक बुद्धिमूलक विश्व की प्रकृति की घटनाएँ ही हैं।

किंतु यदि ऐसा है तो यह पूछा जा सकता है कि स्टोइकों के जगत में स्वतंत्रता का क्या स्थान है ? मनुष्य जिस तरह भी काम करें लेकिन उसका काम प्रकृति की अनिवार्य और अवश्यम्भावी अभिव्यक्ति ही होता है। तो क्या इससे यह नतीजा निकलता है कि मनःप्रसाद और भोगविलास दोनों की खोंज या लालसा प्रकृति के ही आवश्यक परिणाम हैं ? स्टोइक इसका स्वीकारात्मक जवाब देंगे। किंतु यदि हम प्रकृति की अनिवार्यतावश ही काम करते हैं तो फिर कर्तव्य का क्या अर्थ रह जाता है ? वरण की शक्ति के बिना किसी काम को करने या न करने के कर्तव्य का अर्थ ही क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में स्टोइक वाह्य अनिवार्यता और प्रकृति की आन्तरिक अनिवार्यता में भेद करते हैं। स्वतंत्रता केवल वाह्य अनिवार्यता की ही विरोधी है किंतु प्रकृति की आन्तरिक अनिवार्यता और स्वतंत्रता दोनों में तादात्म्य है और उनका एक ही अर्थ है। किंतु इस उत्तर से अभी अभी वर्णित तार्किक आपत्ति का समाधान नहीं होता। हम जिस तरह से काम करने जा रहे हैं यदि हममें उसके प्रतिकूल काम कर सकने की शक्ति नहीं है तो उस काम को हमारा कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। इस समस्या पर १० वें अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया जायगा।

२. कांट का रूपात्मवाद (The Formalism of Kant)

स्टोइकों की जगत विषयक धारणाओं और संकल्पवाद (Determinism) का वैकल्पिक नैतिक संभावनों से समन्वय करने से मुक्त बुद्धिपरतावाद का एक अन्य रूप इमैनुएल कांट (१७२४-१८०४) द्वारा प्रतिपादित किया गया था। कांट ने अपनी धारणा को "फंडामेंटल प्रिंसि-

पिल्स आव् दि मेटाफिज़िक्स ऑव् मॉरल्स" नामक संक्षिप्त और दुरूह पुस्तक में प्रस्तुत किया है।

अपनी पहली पुस्तक "क्रीटीक आव् 'योररीज़न" में कांट ने यह दिखाया था कि किसी वस्तु के ज्ञान की प्राग्नुभव विशेषताएँ क्या होती हैं। प्राग्नुभव (a priori) विश्लेषण से ज्ञान के विषय का पता नहीं चल सकता क्योंकि ज्ञान को सामग्री इन्द्रिय-अनुभव से ही मिलती है। किंतु इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या इन्द्रिय-अनुभव में कुछ विशेषताएँ सदा रहती हैं: प्रत्येक ज्ञान उन्हीं विशेषताओं के अनुसार ही हो सकता है। हम जो कुछ भी देखते हैं उसे द्रव्य के रूप में देखते हैं; उस द्रव्य में गुण होते हैं, उन गुणों का किसी न किसी तरह का मात्रात्मक निर्धारण किया जा सकता है और उनका अन्य वस्तुओं से कारणात्मक सम्बन्ध होता है। हमारा सारा अनुभव इन्हीं सामान्य विशेषताओं द्वारा ही संभव होता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि हम अनुभव द्वारा उनकी परीक्षा नहीं कर सकते। हवा ठंडी है या गर्म इसके लिए हम अनुभव का सहारा ले सकते हैं किंतु हवा में गुण हैं या नहीं इसको अनुभव से नहीं जाना जा सकता। वैज्ञानिक किसी चीज़ के कारणों का पता चलाने के लिए प्रयोग कर सकता है किंतु प्रयोग के परिणामों से अलग उसे पहले कारणों की सत्ता में विश्वास करना ही पड़ता है। कांट के अनुसार वस्तुओं के मूलभूत रूप (Forms) और सम्बन्ध स्वयं वस्तुओं "में" नहीं होते वरन् मनुष्य द्वारा वस्तुओं को जानने का परिणाम होते हैं। रूप (Forms) वैसे क्यों हैं जैसे कि वे होते हैं इसका कारण मनुष्य की बौद्धिक प्रकृति में मिलता है।

नैतिक मामलों में भी प्राग्नुभव (a priori) तत्व होते हैं। जिस प्रकार बुद्धि के विकल्पों (categories of the understanding) को संवेदन के विषयों में नहीं पाया जा सकता उसी प्रकार कर्त्तव्य हमारी इच्छाओं या किसी काम को करने या न करने पर निर्भर नहीं होता। कर्त्तव्य और अन्तर्प्रेरणा में अक्सर विरोध होता है और वे तार्किक रूप से

विभिन्न होते हैं। दूसरे हमारी प्रवृत्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं और एक साथ ही हमें विरोधी कामों की ओर प्रवृत्त करती हैं। किंतु दो विरोधी कामों में से दोनों उचित नहीं हो सकते। अतएव इससे यह नतीजा निकलता है कि उचित और इच्छित कामों में मूलभूत भेद है। उचित काम को करना मनुष्य का निरपेक्ष कर्त्तव्य है और "कर्त्तव्य को मनुष्य के स्वभाव या उसकी सामाजिक परिस्थिति में नहीं ढूँढ़ना चाहिए; कर्त्तव्य शुद्ध बुद्धि की प्राग्नुभव धारणा में ही निहित होता है।" यदि झूठ बोलना और दगा देना अनुचित है तो वह हर परिस्थिति में अनुचित है। सच बोलना और वचन को निभाना यदि उचित है तो वह सदा हमारा कर्त्तव्य है। सच बोलने का कर्त्तव्य और झूठ बोलने का अनौचित्य जैसा मनुष्यों के लिए है वैसा ही सारे बौद्धिक प्राणियों के लिए भी है—चाहे वे मनुष्य से भिन्न ही क्यों न हों—देवताओं तक के लिए। "झूठ बोलना नैतिक दृष्टि से अनुचित है" यह बात ७+५=१२ की तरह ही प्राग्नुभव है और बौद्धिक रूप से समझने वाले के लिए स्वयंसिद्ध है। इन दोनों बातो का सत्य अनुभव में नहीं मिलता; वे दोनों सार्वभौम सिद्धान्त हैं और अनुभव को (विभिन्न प्रकार से) उन्हीं के अनुसार होना पड़ता है।

गणित की बातों की प्राग्नुभव प्रकृति को साबित करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु नैतिक बातें भी गणित की बातों की तरह अनिवार्य और सार्वभौम होती है यह जरा अस्पष्ट है। अब हमें यह परीक्षा करनी है कि कांट अपनी बात को कैसे साबित करता है।

नैतिक मूल्य का स्थान (The Locus of Moral Worth)

नैतिक अच्छे और बुरे को कहाँ पाया जाता है? नैतिक निर्णय किस पर लागू होते हैं? किसी मनुष्य के काम के अच्छे या बुरे परिणाम के लिए क्या हमें उसकी प्रशंसा करनी चाहिए या उसे दोष देना चाहिए? नहीं, किसी काम का परिणाम उस काम से बाह्य होता है और वह तार्किक और कारणात्मक दृष्टि से स्वतंत्र होता है। परिणाम में परिस्थिति वश भी बहुत सी बातें आ जाती हैं; कर्त्ता उनके लिए पूरा उत्तरदायी नहीं होता

और कभी-कभी तो बिल्कुल नहीं होता। यदि कोई किसी जरूरतमन्द आदमी को आर्थिक सहायता देता है और वह उसे शराब पीने में उड़ा देता है तो आर्थिक सहायता का नैतिक श्रेय उसके परिणाम से बदल नहीं जाता। नैतिक दृष्टि से किसी काम के परिणाम उस काम से बाह्य कैसे होते हैं यह उसका एक उदाहरण है।

इस भेद का एक और भी सूक्ष्म और तार्किक रूप है। जहाँ परिणामों को पहले से भी देखा जा सकता है वहाँ भी काम की नैतिकता परिणामों में नहीं होती। इच्छित परिणामों के अनुसार काम करना विवेकपूर्ण है किंतु नैतिकता काम में ही ढूँढ़नी चाहिए। विवेकपूर्ण काम और नैतिकता दोनों का स्वर आदेशात्मक होता है, "यह करो" या "तुम्हें यह करना चाहिए।" किंतु विवेकपूर्ण आदेश कल्पनात्मक ही होता है, "यदि तुम्हें मन बहलाना है तो तुम्हें अमुक खेल देखना चाहिए।" यहाँ आदेश एक इच्छा पर आधारित है जो स्वयं आदेशात्मक नहीं है। हम यह नहीं कहते कि "तुम्हें मन बहलाने की इच्छा करनी ही चाहिए;" हम केवल इसी बात का पता लगाते हैं कि तुम्हें अपना मन बहलाने की इच्छा है या नहीं और तुम उसके अनुसार काम करते हो या नहीं। इस दृष्टि से सुखवादी परिगणन-विधि (Calculus) का नैतिक आग्रह विवेकयुक्त और कल्पनात्मक होने से नैतिक नहीं होता। इसी प्रकार स्पेन्सर का सिद्धान्त "जीवन को उन्नत करो" भी परीक्षा करने पर तभी खरा उतरता है जब जीवन को मंगलमय मान लिया जाय (जैसा कि स्पेन्सर मानता है)। तब स्पेन्सर के सिद्धान्त का रूप यह हो जाता है: यदि तुम जीवन को जीवन के लिए चाहते हो और उसकी वृद्धि और उन्नति की कामना रखते हो तो तुम्हें उसकी वृद्धि की चेष्टा करनी चाहिए। यहाँ कांट यही कहता है कि यह आदेश भी कल्पनात्मक होने के नाते नैतिक नहीं है।

नैतिक कर्तव्य में कोई शर्त नहीं होती: कांट की भाषा में नैतिक कर्तव्य निरपेक्ष आदेश (Categorical imperative) होता है।

उसको निरपेक्ष रूप से स्वीकार किया जाता है, उसमें अगर-मगर की गुञ्जाइश नहीं होती। ऐसा आदेश कहाँ मिल सकता है? कल्पनात्मक आदेश जगत की प्रकृति से प्राप्त होते हैं। "यदि जलने से बचना चाहते हो तो आग से दूर रहो;" आग और जलने में कारणात्मक सम्बन्ध है। निरपेक्ष आदेश जगत की प्रकृति में नहीं मिल सकते, उन्हें कर्त्ता की प्रकृति में ही पाया जा सकता है।

कर्त्ता किसी भी काम को करने में अपना संकल्प (will) अभिव्यक्त करता है अतएव काम के नैतिक मूल्य का निर्धारण कर्त्ता के संकल्प की विशेषता से होना चाहिए। साहस, चतुरता, धन, शक्ति, सम्मान, स्वास्थ्य और सुखों को बुरे संकल्प द्वारा बुरे साध्यों की ओर लगाया जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साहस, सम्मान और सुख आदि अपने आप में अच्छे या हितकारी नहीं हैं। आत्मनियंत्रण, शांत भाव से विचार करना आदि संकल्प के प्रत्यक्ष गुण भी अपने आप में हितमय नहीं हैं। उनका मूल्य उनको प्रेरित करने वाले शुभ-संकल्प में होता है। यदि उनके पीछे शुभ-संकल्प न हो तो उन्हें बुरे साध्यों की ओर लगाया जा सकता है जैसा कि बदमाश आदमी की शराफत से स्पष्ट है। अतएव शुभसंकल्प (good will) के अतिरिक्त और कुछ भी श्रेयस्कर या मंगलमय नहीं है।

बौद्धिक संकल्प (The Rational Will)

किंतु शुभ-संकल्प को कैसे जाना जा सकता है? कांट का भावात्मक उत्तर पाने के पहले संकल्प (will) और अन्तर्प्रेरणा (impulse) में भेद करना चाहिए। हम यह कैसे जान सकते हैं कि हम अन्तर्प्रेरणा के प्रवाह में न पड़कर वस्तुतः संकल्प या वरण कर रहे हैं? वरण करने के समय हरेक को अपने संकल्प की परीक्षा करनी चाहिए। अन्तर्प्रेरणाओं में द्वन्द होद पर ही संकल्प का काम पड़ता है। किन्तु अधिक ध्यान देने से यह भी पता चलेगा कि कुछ न कुछ बौद्धिक नियंत्रण भी रहता है जो

अन्तर्प्रेरणाओं का पथ-प्रदर्शन करता है और उन्हें एक बौद्धिक योजना के अन्तर्गत लाता है। संकल्प के इन दो—अन्तर्प्रेरणात्मक और बौद्धिक—पहलुओं में से कौन मूलभूत है? कांट का उत्तर है—बौद्धिक। जहाँ तक शारीरिक आत्म संरक्षण, उन्नति और सुख का सवाल है वहाँ तक उनकी प्राप्ति बुद्धि से न होकर स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं से ही होती है। अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए प्रकृति उन उद्देश्यों से सुसंयोजित साधनों को ही चुनती है; अतएव इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से बुद्धि बेकार है। बुद्धि हमें शारीरिक सन्तोष और उपयोगिता के अलावा अन्य उद्देश्य के लिए दी गई होगी। चूँकि बुद्धि अन्तर्प्रेरणाओं और इच्छाओं की तृप्ति के लिए संकल्प का निर्देशन नहीं कर सकती इसलिये उसका वास्तविक कार्य बुद्धि के सिद्धांतों द्वारा ही संकल्प का निर्देशन करना या बौद्धिक संकल्प को उत्पन्न करना होना चाहिये। और चूँकि किसी वस्तु का मूलभूत रूप से श्रेयस्कर होना उसकी कार्यपूर्त्ति में ही होता है इसलिए संकल्प का श्रेयस्कर होना उसके बौद्धिक होने या बौद्धिक रूप से काम करने में होना चाहिये। अतएव केवल बौद्धिक संकल्प ही मूलभूत रूप से श्रेयस्कर होता है।

बौद्धिक रूप से संकल्प करना आत्मबाध के बिना या पूर्ण एकरूपता के साथ संकल्प करना है। तार्किक एकरूपता के नियम के अनुसार किसी वस्तु का एक समय में ही कोई विशेषता रख सकना और न रख सकना दोनों संभव नहीं है। इस नियम के अनुसार कोई काम एक ही समय उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। वह हमारी सुविधा के समय उचित और असुविधा के समय अनुचित नहीं हो सकता। यदि हमारा उद्देश्य बौद्धिक होने से नैतिक है तो वह किसी अवसर विशेष पर हमारे लिए अपवाद नहीं हो सकता। जिस बात को हम नापसन्द करते हैं उसी को बौद्धिक दृष्टि से अर्थात् नैतिक दृष्टि से स्वयं भी नहीं कर सकते। अपने किसी काम को नियम का अपवाद समझना असंगत और इसलिए अनैतिक है। जो मनुष्य जिन नियमों और मापदण्डों को स्वयं मानता है वह यदि उन मापदण्डों और नियमों से अपने को अपवाद

समझे तो वह अनैतिक व्यक्ति है। आचार के नियम की भाँति यह निम्नलिखित सिद्धांत बन जाता है : "सदा उस सिद्धांत के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सको।"

कर्तव्य कर्तव्य के लिए

जैसा कि हमने देखा है कांट मूलभूत नैतिक मूल्य को संकल्प में ही मानता है और संकल्प के मूल्य का निर्णय उसके परिणामों से न होकर उसको प्रेरणा देने वाले सिद्धांत से ही किया जा सकता है। शुभ-संकल्प द्वारा प्रेरित होने पर ही कोई काम नैतिक दृष्टि से श्रेयस्कर हो सकता है। संगत होने के कर्तव्य द्वारा प्रेरित होने से शुभ-संकल्प का वर्णन यों किया जा सकता है : "काम नैतिक रूप से तभी श्रेयस्कर होते हैं जब उन्हें नैतिक संगति का कर्तव्य समझ कर किया जाता है; वे कर्तव्यानुसार किए जाने मात्र से ही श्रेयस्कर नहीं होते।" प्रवृत्तिवश किया गया काम कर्तव्य के अनुसार हो सकता है किंतु उसमें नैतिक मूल्य नहीं होता। कांट इसका उदाहरण यों देता है : अपने जीवन की रक्षा करना कर्तव्य के अनुसार है तो भी उसमें नैतिक मूल्य नहीं है क्योंकि हरेक में उसकी प्रत्यक्ष प्रवृत्ति होती है। दूसरों को लाभ पहुँचाना यद्यपि कर्तव्य के अनुसार काम करना है किंतु यदि कर्त्ता सहानुभूति या प्रत्यक्ष प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित हुआ है तो उस काम का कोई नैतिक मूल्य नहीं है। दूसरी ओर यदि कोई मनुष्य जीवन को घृणा करते हुए भी यदि उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है या सहानुभूति द्वारा प्रेरित न होने पर भी दुख में दूसरों को लाभ पहुँचाता है तो उसके काम का नैतिक मूल्य है।

इन उदाहरणों से कांट का यह सिद्धान्त विरोधाभास युक्त लग सकता है किंतु यह उसकी युक्तियों की तार्किक आवश्यकता का ही परिणाम है। मान लीजिए कि सोहन जीवित रहना चाहता है और मोहन मर जाने को लालायित है किंतु दोनों ही अपने जीवन की रक्षा करते हैं—पहला तो

स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण और दूसरा कर्तव्य समझ कर। इन दोनों व्यक्तियों में वाह्य समानता होते हुए भी उनके आचरण को प्रेरित करने वाले सिद्धान्तों में अन्तर है। नैतिक मूल्य की दृष्टि से क्या उनका आचार समान है या उसमें भेद है? उनके आचार में स्पष्ट भेद है क्योंकि नैतिक मूल्य का निर्णय उद्देश्य या वरण करने में बौद्धिक संगति के उद्देश्य की मात्रा से ही किया जा सकता है। मोहन के मामले में उद्देश्य प्रवृत्ति का विरोधी होने से स्पष्ट है। किंतु यदि सोहन इसलिए जीवित रहता है कि उसे जीवित रहने में लुत्फ मिलता है तो उसके लिए नैतिक संगति का सवाल ही पैदा नहीं होता। इस मामले में उसके नैतिक मूल्य को तब तक नहीं परखा जा सकता जब तक उसके जीवन में कोई ऐसा संकट न आ जाय जिससे वह जीवन की अपेक्षा मृत्यु को चाहने लगे। उसके नैतिक मूल्य की मात्रा, नैतिक संगति के प्रति उसके सचेष्ट सम्मान की परख तभी और केवल तभी की जा सकती है जब उसमें अपने को अपवाद समझने की लालसा पैदा हो जाय। नैतिक होने के लिए किसी काम को कर्तव्य के अनुसार ही न करके उसे कर्तव्य भावना द्वारा करना चाहिए। नैतिकता की इस शर्त पर ही कांट ने अपने पहले आचारीय नियम को यों बनाया है: "केवल उसी सिद्धान्त के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बनाए जाने की कामना कर सको।"

सिद्धान्त का उपयोजन

निरपेक्ष आदेश को लागू कैसे किया जा सकता है? वह चक्रक दोष वाला कोरा सैद्धान्तिक नियम सा ही प्रतीत होता है: नैतिक नियम यह है कि हमारे कामों को सदा नैतिक नियम से प्रेरित होना चाहिए। कांट नें अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण दिए हैं, उनमें से यहाँ दो पर ही विचार किया जायगा।

मान लीजिए कि एक आदमी दुर्भाग्य की मार से बिल्कुल निर्धन हो गया है और वह जीवन से उकता गया है किंतु उसमें अपने से यह पूछने

की बुद्धि रह गई है कि आत्महत्या करना कर्तव्य से विमुख होना तो नहीं है। उसे इस बात की खोज करनी चाहिए कि उसके काम करने के सिद्धान्त को हरेक के लिए सार्वभौम नियम बनाया जा सकता है या नहीं? नहीं बनाया जा सकता—कम से कम बाध के बिना तो नहीं। क्योंकि उसका सिद्धान्त वास्तव में यह है : जब जीवन को बनाए रखने में तृप्ति की जगह दुख ही अधिक मिलें तो आत्महत्या या जीवन को नष्ट कर लेना एक सिद्धान्त बनाया जा सकता है। यह सिद्धान्त स्पष्टतः आत्म-प्रेम के उद्देश्य पर निर्भर है। कांट टीका करता है :

> तब यह पूछा जाता है कि आत्मप्रेम पर आधारित यह सिद्धान्त प्रकृति का सार्वभौम नियम बन सकता है या नहीं। प्रकृति की व्यवस्था में यदि वही अनुभूति जिसका विशेष स्वभाव जीवन को उन्नत बनाना है जीवन को नष्ट करने का नियम बन जाय तो उसका बाध हो जाता है, अतएव प्रकृति की व्यवस्था में उसकी सत्ता नहीं हो सकती और वह सिद्धान्त भी प्रकृति का सार्वभौम नियम नहीं बन सकता और इसलिए वह कर्तव्य के परम सिद्धान्त से पूर्णतया असंगत पड़ता है।

दूसरे उदाहरण में मान लीजिए कि एक आदमी परिस्थितिवश रुपया उधार लेता है और उसको लौटा नहीं सकता है। उसे रुपया इसी शर्त पर उधार मिल सकता है कि वह उसे एक निश्चित समय में लौटा दे। क्या वह कर्तव्य के प्रति संगत रहते हुए वादा कर सकता है? अब कसौटी को फिर लागू कीजिए। उसे पूछने दीजिए, "यदि मेरा सिद्धान्त सार्वभौम नियम बन जाय तो कैसा होगा?" वह तुरन्त देख लेगा कि उसके काम करने का सिद्धान्त सबके लिए सार्वभौम नियम नहीं बन सकता और अपना बाध करता है।

> मान लीजिए कि उसका सिद्धान्त सार्वभौम नियम है और कष्ट में पड़ने पर हर आदमी हर तरह के वादे कर लेता है और उनको पूरा नहीं करता तो वादा करना ही असंभव हो जायगा

और वादों से जो काम बनता होगा वह भी नहीं बनेगा क्योंकि कोई आदमी किसी के वादे को निरर्थक जानकर कभी स्वीकार नहीं करेगा।[1]

मनुष्यों का मूल्य (The Worth of Persons)

चूँकि आचार का पहला नियम बौद्धिक जीवों के लिए है और उन्हीं के लिए ठीक भी है और उनके बिना उसकी सत्ता नहीं हो सकती इसलिए नियम के मूलभूत मूल्य को बौद्धिक जीवों का विशेषण भी होना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य और अन्य बौद्धिक प्राणी—यदि उनकी सत्ता हो—अपने आप में ही साध्य हैं क्योंकि नैमित्तिक मूल्य (instrumental value) से अलग मूलभूत मूल्य रखने का अर्थ स्वयं साध्य होना है। चूँकि आचार का नियम जीव (self) का नियम भी है इसलिए निरपेक्ष आदेश को यों भी कहा जा सकता है : "इस प्रकार काम करो कि मानवता, चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो चाहे किसी और के, सदैव साध्य ही बनी रहे, साधन मात्र कभी नहीं।" सुविधा के लिए हम इसे कांट का आचार का दूसरा नियम या दूसरा निरपेक्ष आदेश कहेंगे।

ये दोनों नियम एक दूसरे के पूरक हैं जैसा कि नीचे दिए गये विश्लेषण से स्पष्ट है :

> जब हम कोई ऐसा काम करते हैं जिसे हम हरेक के लिए नियम नहीं बना सकते तो हम अपने लाभ का ही ध्यान रख दूसरों के लाभ को नहीं देखते। तब हम अपने को साध्य और दूसरों को केवल साधन समझने लगते हैं अर्थात् हम उन्हें नगण्य समझ कर उनसे लाभ उठाते हैं। किंतु जब हम इस तरह काम करते हैं कि वह सार्वभौम नियम की अभिव्यक्ति बन

---

[1] उपर्युक्त दोनों उद्धरण कांट की "मेटाफिज़िक आव् मॉरल्स" से लिए गए हैं।

जाय तो हम दूसरों के साध्यों को भी अपना ही समझने लगते हैं और मानवता को स्वयं एक निरपेक्ष साध्य समझते हैं ।[1]

इस व्याख्या के अनुसार कांट का नियम ईसाई धर्म के इस सिद्धान्त की बौद्धिक अभिव्यक्ति बन जाता है कि "दूसरों के साथ वैसा ही करो जैसा तुम अपने साथ करवाना चाहते हो" (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्) । तब यह आचार की परीक्षा करने का परमावश्यक सिद्धान्त बन जाता है । निर्बुद्धि उसी अन्तर्प्रेरणा की तृप्ति का समर्थन एक व्यक्ति में कर सकती है और दूसरे में नहीं । किंतु संतुलित बुद्धि का व्यक्ति अपने काम और दूसरों के काम को केवल एक ही नियम के अनुसार परखेगा ।

आलोचनात्मक विचार

बाध-नियम (Law of Contradiction) को मानवी कार्यों पर लागू करना क्या अस्पष्ट नहीं है ? बाध-नियम की सत्यता केवल सैद्धान्तिक है । उसे लागू करने पर कुछ विशेषताओं का वर्णन करना पड़ता है । "मानव जाति ईमानदार और बेईमान दोनों नहीं हो सकती" यह कथन बाध-नियम के अनुकूल होते हुए भी बिल्कुल ग़लत है । इसकी ग़लती का कारण यह है कि विषय-वस्तु में जिस बात को स्वीकार किया जा रहा है उसकी प्रमुख विशेषता बतानी चाहिए जो यहाँ नहीं बताई जा सकती । इसी तरह से यह कथन कि "चोरी एक साथ ही उचित और अनुचित दोनों नहीं हो सकती" भी ग़लत है । यह विश्वास करना कि चोरी कुछ परिस्थितियों में न्यायोचित और अन्य परिस्थितियों में न्यायोचित नहीं है संभव है । इस भेद में कोई प्रागनुभव (a priori) तार्किक आपत्ति नहीं है । 'चोरी' शब्द का जैसा व्यवहार किया जाता है वह भाषा और सामाजिक प्रथा का संयोग मात्र ही है । बिना आज्ञा के तीन पैसे का टिकट ले लेना चोरी कहा जा सकता है और उसे डाका

---

१ वॉर्नर फ़ाइट, ऐन इंट्रोडक्टरी स्टडी आव् एथिक्स ।

डालने की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। कुछ लोग शायद पहली चोरी को सार्वभौम हो सकने की अनुमति दे देंगे या वे इस बात पर ज़िद करेंगे कि व्यर्थ चोरी करने और ज़रूरत पड़ने पर चोरी करने में भेद करना चाहिए। किंतु कांट इन भेदों को नहीं मानेगा क्योंकि उनसे नियम का सार्वभौम होना नष्ट हो जाता है। सार्वभौम होना शब्दों की परिभाषा और धारणाओं के प्रयोग के ढंग की अपेक्षा रखता है। क्या जायदाद का वारिस बनना भी एक तरह की चोरी है? सामाजिक दार्शनिक कहेंगे कि है किंतु कांट का सिद्धान्त समाजवाद का प्रतिपादन करता प्रतीत नहीं होता। समाजवादी दृष्टिकोण से कांट की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि उसने चोरी न करने की पर्याप्त रूप से सार्वभौम व्याख्या नहीं की है।

आचार का पहला नियम विभिन्न स्थितियों में अनेक ढंगों से लागू हो सकता है। कांट आत्महत्या को असंगत मानता है किंतु आत्महत्या करने वाला प्रत्युत्तर में यह कह सकता है कि उसकी दृष्टि में सब को आत्महत्या कर लेना चाहिए। क्या उसके इस दृष्टिकोण को नैतिक संगति के आधार पर तिरस्कृत किया जा सकता है? चोर और हत्यारा अपनी नीति को सार्वभौम बन सकने की इच्छा कर सकता है और इसके लिए वह लड़ने को भी उद्यत हो सकता है। क्या कांट के सिद्धान्त में इसका तिरस्कार करने की गुंजाइश है?

अन्त में कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जहाँ आचार के पहले नियम का उपयोजन बिना बाध के नहीं हो सकता। मान लीजिए कि कोई आदमी अपनी नौकरी को सुरक्षित रखने के लिए, जिससे उसके परिवार को भूखों न मरना पड़े, किसी कुटिल व्यापार को करता है। आचार का पहला नियम यदि ईमानदारी को सार्वभौम नियम मानता है तो क्या वह परिवार का पालन पोषण करने के कर्तव्य को सार्वभौम नियम नहीं मानेगा? हमारे अपूर्ण समाज में इन दोनों कर्तव्यों में अक्सर विरोध रहता है और उनसे एक ऐसा नैतिक धर्मसंकट पैदा हो जाता है जिससे

बचा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में क्या वैकल्पिक वरण नैतिक दृष्टि से पाप नहीं है? नैतिक दृष्टि से कौन सा मार्ग कम पापमय है और किसका वरण करना चाहिए? क्या कांट का पहला आचारीय नियम दूसरे से अनुपूरित होकर भी ऐसी स्थिति में निश्चय कर सकने के लिए कोई स्पष्ट आधार प्रस्तुत करता है?

इन दोषों और अस्पष्टताओं के होते हुए भी कांट का सिद्धान्त नीतिशास्त्र को एक महत्वपूर्ण देन है। उसने वास्तविक नैतिकता की दो प्रमुख शर्तों को प्रतिष्ठित किया है चाहे उसकी भाषा सर्वमान्य न हो या उसमें आवश्यक भेद न हों। प्रामाणिक नैतिक नियम वही है जो सबको हर स्थिति और हर हालत में समान रूप से अनुबद्ध करे। यहाँ तक तो उसके रूप का सम्बन्ध है। जहाँ तक उसके विषय का सम्बन्ध है उसमें हर व्यक्ति के प्रति निरपेक्ष सम्मान निहित है। इन दोनों पहलुओं को साथ लेने और उसकी समीचीन व्याख्या करने से उपर्युक्त बहुत सी शंकाओं का समाधान हो जाता है। चोर और हत्यारा यदि अपनी नीति को सार्वभौम बन जाने देना चाहता है तो वह तार्किक दृष्टि से संगतिपूर्ण हो सकता है किंतु वह संगति तथ्यहीन है; वह मानवी रूप की बौद्धिक संगति नहीं है क्योंकि उसमें दूसरों के प्रति कोई सम्मान निहित नहीं है। दूसरी ओर अनेक अवसरों पर नियम के अपवाद भी हो जाते हैं—कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ हित की रक्षा के लिए चोरी करना या झूठ बोलना जायज़ होता है। कांट आत्मभ्रम और बुरी आदतें पड़ जाने के ख़तरों के कारण ऐसे अपवादों को स्वीकार नहीं करता किंतु कांट के दोनों नियमों की स्वतंत्र व्याख्या करने से अपवादीय परिस्थितियों में अपवादीय नैतिकता को मान्यता देना नैतिक दृष्टि से संभव है। यदि हमारे झूठ बोलने से किसी के सम्मान या जीवन की रक्षा हो रही हो तो झूठ बोलना हमारा कर्तव्य हो सकता है किंतु हमारा कर्तव्य नैतिक है या स्वपक्ष पर आधारित है इसकी जाँच कांट के दोनों नियमों से ही हो सकती है। उसी स्थिति में पड़कर दूसरा व्यक्ति हमसे भी झूठ बोले क्या

हम इसके लिए तैयार हैं ? यदि हम ईमानदारी से इस चुनौती को स्वीकार करते हैं तो हम दूसरों का सम्मान करते हैं क्योंकि हम जिस बात को अपना अधिकार समझते हैं उसे दूसरों का भी उतना ही अधिकार समझते हैं और दूसरों के साथ जो व्यवहार करते हैं उसे अपने साथ होने देने में नहीं हिचकते। किंतु इन अपवादों को जहाँ तक हो सके कम ही स्वीकार करना चाहिए। नैतिक नियम का हर अपवाद उस नियम के प्रति सम्मान को ही नहीं वरन् नैतिक कर्तव्य को भी कम कर देता है। नैतिक नियमों के अपवाद संभवतः उतने नहीं हैं जितने कि हम अपने लिए बहाना बनाकर निकाल लेते हैं। सामान्य रूप से कांट का बुद्धिपरतावाद नैतिक मामलों में पक्का और सच्चा निर्देशक है।

७

मानवतावाद

अब हम नीति शास्त्र के कई सिद्धान्तों की परीक्षा कर चुके हैं। उनमें जो भेद थे वे उनके एकांगी होने के कारण थे। हर सिद्धान्त एक विशेष बात को लेकर ही चलता था और उसी बात पर जोर देकर मनुष्य की असीम विभिन्नता की व्याख्या नहीं कर पाता था। इसीलिए कुछ लोग नीतिशास्त्र को शब्दजाल मात्र ही मानते हैं जिसका जीवनयापन की कला से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिससे किसी काम का निश्चय नहीं किया जा सकता।

किंतु नीतिशास्त्र के हर गम्भीर सिद्धान्त में कुछ न कुछ सत्य तो रहता ही है। नीतिशास्त्र का लेखक नैतिक सत्य की प्रकृति को अपनी जिस अन्तर्दृष्टि से देखता है उसका वर्णन तो करता ही है। किंतु बहुधा यह होता है कि अपनी अन्तर्दृष्टि के सीमित होने या तार्किक रूप से किसी संगत सिद्धान्त को पाने की लालसा के कारण लेखक अपनी अन्तर्दृष्टि की एक ही विशेषता को ज्यादा प्रधानता देता है। किंतु सत्य का एक अंश ही देख पाने के कारण किसी दार्शनिक की अवहेलना या उपेक्षा नहीं की जा सकती। सत्य को पूर्णरूप से कौन देख सका है? हम किसी धर्म या जीवन विधि के सिद्धान्तों को न मानते हुए भी उस धर्म या जीवन विधि की प्रशंसा कर सकते हैं।

नीतिशास्त्र की प्रत्येक मुख्य व्यवस्था की अन्तर्दृष्टियों को स्वीकार कर उनमें ऐसा समन्वय कर सकना कहाँ तक सम्भव है जिससे जीवन की विभिन्न नैतिक समस्याओं और निश्चयों पर एकरूपता से विचार किया जा सके? फिर धार्मिक नैतिकता में क्या नैतिक तत्वों को धर्म से अलग करके भी उन्हें नैतिक आचार का सही निर्देशक बनाया जा सकता है? ये दोनों

प्रश्न एक ही प्रश्न में संक्षिप्त किए जा सकते हैं : क्या मानवतावादी नीतिशास्त्र संभव है ? मानवतावादी नैतिक दर्शन में निम्नलिखित दो विशेषताएँ होती हैं। पहले तो वह मनुष्य की सारी अप्रकट संभावनाओं और उसके सम्पूर्ण स्वभाव के प्रति न्याय करता है। सुख का उपभोग, जिसे सुखवाद में प्रधानता दी जाती है, निस्सन्देह अपनी तरह का एक हित है किंतु आत्म-नियन्त्रण, उदारता, सम्मान का प्रेम और न्यायप्रियता भी हित हैं जिन्हें सुखवादी सुखों को पाने और दुखों को दूर करने के साधन मात्र ही समझता है। दूसरे मानवतावाद का केन्द्र मनुष्य का स्वभाव है और वह मनुष्य को प्रकृति, समाज या ईश्वर के अंश की अभिव्यक्ति मात्र नहीं समझता। इसका यह अर्थ नहीं है कि मानवतावादी विश्व-विषयक कोई विश्वास नहीं रखता वरन् वह अपने नीतिशास्त्र का आधार मनुष्य की क्षमताओं को ही बनाता है किसी आधिदैविक विश्वास को नहीं।

१ प्लेटो

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) के नीतिशास्त्र का ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ उसे मानवतावाद के अन्तर्गत लिया गया है किंतु उसमें रहस्यवाद और आधिदैविकवाद भी है। प्लेटो दर्शन को सत्य का चंचल प्रतिबिम्ब मानता था जिसे विभिन्न प्रकार की खोजों और वाद विवादों से ही विकसित किया जा सकता था। उसका लिखित शब्दों में विश्वास नहीं था क्योंकि लिखित शब्द जड़ होता है और उसका अर्थ करीब-करीब नष्ट सा हो जाता है।

> फ़ीडरस तुम जानते हो लिखित शब्द लिखित चित्र के समान होता है। चित्र लिखित प्राणी सजीव से तो अवश्य लगते हैं किंतु यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो तो वे चुप रहते हैं। लिखित शब्दों में भी यही बात है; वे तुमसे बोलते हुए से जान

पड़ते हैं किंतु यदि तुम उनसे उनका अभिप्राय पूछो तो वे अपनी एक बार कही बात को सदा दोहराते रहेंगे।[१]

लिखित शब्द में अपने अविश्वास होने के कारण ही शायद प्लेटो ने अपनी रचनाओं को संवाद रूप में लिखा है जिससे सत्य की चंचल विशेषता की अभिव्यक्ति हो सके। संवाद में लेखक किसी बात को निश्चय पूर्वक स्वीकार न कर उसे पाठक पर ही छोड़ देता है। प्लेटो की भावात्मक शिक्षाएँ मौखिक ही थीं जो आज अपने भग्न रूप में ही सुरक्षित हैं।

जैसा कि दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है सुकरात ने नीतिशास्त्र में द्वन्द्वात्मक प्रणाली (Dialectical method) की नींव डाली थी। किंतु प्लेटो के संवादों और जीनोफोन की 'मेमोरेबिलिया' नामक पुस्तक में सुरक्षित सुकरात के इधर-उधर बिखरे संवादों से यह प्रमाण नहीं मिलता कि सुकरात ने अपनी आलोचनाओं और खोजों को कोई व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा की थी। प्लेटो के संवादों में यह पता चलना जरा टेढ़ी खीर है कि उनमें प्लेटो और सुकरात का दृष्टिकोण कितना है। अतएव इस अध्याय में वर्णन की जाने वाली प्लेटो की शिक्षाओं में यह सन्देह किया जा सकता है कि वे प्लेटो की ही शिक्षाएँ हैं या सुकरात की। चूँकि यूनानी विचार धारा में सन्देहवाद की लहर आ चुकी थी इसलिए प्लेटो की बिखरी नैतिक धारणाओं को व्यवस्थित करने की अधिक आवश्यकता जान पड़ी। सोफिस्ट (Sophists) लोगों की यह शिक्षा, कि नैतिक भेद अभ्युपगम (conventional) मात्र ही हैं, जोर पकड़ रही थी। प्लेटो ने उनका विरोध करने के लिए उन्हीं की युक्तियों के ढङ्ग को अपनाया। अपने संवादों में साहित्यिकता का पुट देते हुए उसने सुकरात और सोफिस्टों द्वारा व्यवहृत द्वन्द्वात्मक प्रणाली को ही ग्रहण किया है। उसने अपने संवादों का प्रमुख वक्ता सुकरात को बनाया है जो

---

१ प्लेटो, फीडरस २७५

उस समय की प्रचलित विभिन्न सामान्य और अस्पष्ट सम्मतियों की द्वन्दात्मक परीक्षा करके उनके प्रचारकों का विरोध करता है। संवादों में इधर उधर बिखरी सामग्री से एक व्यवस्थित सिद्धान्त उपलब्ध हो जाता है जिसके नैतिक पहलू पर हम विचार करने जा रहे हैं।

श्रेयस् की एकता (The Unity of the Good)

सुकरात का एक प्रमुख सिद्धांत यह है कि मनुष्य की विभिन्न खूबियाँ और उसके गुण श्रेयस् (good) के एक रूप के ही विभिन्न पहलू हैं। विभिन्न जानवरों की भाँति पवित्रता, न्याय, सौम्यता और साहस को श्रेयस् के विभिन्न खण्ड मानना नैतिक स्थिति को विद्रूप कर देना है। सुकरात उन लोगों की युक्तियों में छिद्रान्वेषण करने से कभी नहीं चूकता था जो यूथाइफ्रो की भाँति गुणों का वर्गीकरण करते थे। उसकी निषेधात्मक आलोचना से मानवी श्रेयस् की उचित परिभाषा करने की नैतिक समस्या आगे के लिये स्पष्ट हो गई।

क्या विषय सापेक्ष (objective) श्रेयस् और औचित्य नाम की कोई वस्तु है? प्लेटो के संवाद गॉर्जियाज़ में (जिसका वर्णन तीसरे और चौथे अध्याय में हो चुका है) कैलीक्लीज़ श्रेयस्कर उस वस्तु को कहता है जो प्रसन्न करे और औचित्य उस शक्ति को मानता है जिसे दूसरों पर लादा जा सके। प्लेटो का दर्शन इसके विपरीत श्रेयस् के अर्थ को लोगों की सम्मति से स्वतंत्र मानता है और यह अर्थ विश्व की सबसे अधिक वास्तविक चीज़ से निर्धारित होता है। किंतु विश्व की सबसे अधिक वास्तविक चीज क्या है? प्लेटो का उत्तर है कि इन्द्रिय-अनुभव की वस्तुएँ नहीं हैं, क्योंकि वे सदा अपना स्वभाव बदलती रहती हैं और एक ही समय में जितनी व्याख्याएँ हो सकती हैं उनके उतने ही रूप हो जाते हैं। खुजली में खुजलाना कष्ट कर और सुखदायक दोनों ही होता है। बुखार में वही पानी गर्म लगता है जो अच्छे भले में ठंडा लगता है। हेरैक्लाइटस का कहना था कि "तुम दो बार उसी नदी में नहीं नहा

सकते क्योंकि नया पानी प्रतिक्षण आता और बहता रहता है।" संसार की "हर चीज़ प्रवाहशील है, ध्रुव कुछ भी नहीं है।" यह सिद्धांत सोफिस्टों के हाथ में तार्किक और नैतिक सापेक्षवाद बन गया; कुछ भी स्थिर नहीं है, मूल्य और अर्थ भी नहीं। मानवी सम्मति ही सत्य की कसौटी है और मानवी सम्मति बदलती रहती है। इसके उत्तर में प्लेटो का यह कहना है कि अनुभव के परिवर्तनशील सब पहलू और बाध रखने वाली वस्तुएँ प्रतिभासिक मात्र हैं; वे सत्ता का निम्न रूप हैं और उनके अध्ययन से सत्य नहीं मिल सकता। एकरूपता सत्य का प्रधान गुण होना चाहिए। अतएव दार्शनिक को प्रतिभास से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए; उसको परिवर्तन के पीछे वस्तुओं के तात्विक रूप और मूलभूत स्वभाव को देखना चाहिये। इस प्रणाली से ही वास्तविकता को जाना और श्रेयस् के स्वाभाव को समझा जा सकता है।

मूलभूत धर्म (The Cardinal Virtues)

प्लेटो के नैतिक दर्शन की दृष्टि से हमें उचित और अनुचित के स्वभाव पर विचार करना चाहिए। 'रिपब्लिक' के पहले अध्याय में थ्रैसीमैकस ने यह स्वीकार किया था कि न्यायप्रिय व्यक्ति वह दुर्बल आदमी है जो अपने से अधिक शक्तिवान् लोगों को अपना शोषण करने देता है, उदण्ड और अन्यायी व्यक्ति ही सफल होता है इसलिये वही बुद्धिमान और सुखी होता है। सुकरात इसका प्रत्युत्तर यों देता है : क्या तुम्हें यक़ीन है कि अन्याय का मार्ग ही बुद्धिमानी का मार्ग है? ज़रा सोचो कि बुद्धिमत्ता अन्य क्षेत्रों में कैसे निश्चित की जाती है। सच्चे संगीतज्ञ और सच्चे वैद्य के पास अपना एक मापदण्ड होता है जिसके अनुसार खरा उतरना ही उसका उद्देश्य रहता है। झूठा और बनावटी संगीतज्ञ संगीत की परवाह न कर अन्य संगीतज्ञों से बाज़ी मार ले जाने की चिंता ही करता है; झूठा वैद्य रोगी के भविष्य के सुख और स्वास्थ्य की परवाह न कर उसे जैसे तैसे तुरन्त ठीक करके अपनी धाक जमाना चाहता है। क्या न्यायप्रिय व्यक्ति सच्चे संगीतज्ञ की भाँति ही नहीं है? क्योंकि उसका

उद्देश्य भी एक मापदंड के अनुसार होता है जबकि अधर्मी और अन्यायी व्यक्ति बेलगाम होकर काम करता है।

धर्म और न्याय प्रिय व्यक्ति का निर्देशन करने वाला मापदंड क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने में सुकरात थ्रैसीमैकस के इस दावे का भी कि अधर्मी व्यक्ति धर्मप्रिय व्यक्ति से अधिक सुखी होता है, खण्डन करता है। धर्म या औचित्य मनुष्य की आत्मा में रहने वाली वस्तु है, संगीतज्ञ या वैद्य होने की विशेषता नहीं है। किसी चीज़ की श्रेयस्करता जानने के लिए हमें उस वस्तु का स्वभाव जानना चाहिए। आँख का अच्छा होना स्पष्ट देखने में ही है, क्योंकि आँख का काम देखना ही है। इसी प्रकार मानवी आत्मा के नैसर्गिक कार्यों की परीक्षा से ही उसकी अच्छाई जानी जा सकती है। आत्मा का नैसर्गिक कार्य क्या है ? पहली नज़र में लगता है कि आत्मा के अनेक कार्य हैं और उन्हें तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले तो साधारण इच्छाओं और द्वेषों की श्रेणी होती है। दूसरी श्रेणी में क्रोध, आकांक्षा मोह आदि हमारी सक्रिय अनुभूतियाँ और अन्तर्प्रेरणाएँ होती हैं। और अन्त में हमारे अन्दर विवेक और वरण कर सकने की शक्ति होती है जिसे प्रेक्षा (reason) कहा जाता है। पहली दोनों श्रेणियों का शासन और नियंत्रण प्रेक्षा को ही करना चाहिए। पहली श्रेणी के धर्म (virtues) सौम्यता और आत्मनियंत्रण हैं; दूसरी का साहस और तीसरी का चिंतन की शक्ति। न्याय इन तीनों से व्यापक तो है किंतु उसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता। न्याय आत्मा का अपनी सारी पूर्णता के साथ कार्य करने में ही है, किसी एक पहलू में नहीं। न्यायपूर्ण आत्मा सुनियमित आत्मा होती है और उसमें बुद्धि, साहस और सौम्यता का परस्पर उचित सम्बन्ध होता है। चूँकि आत्मा ही मनुष्य का स्वभाव है इसलिए मनुष्य का मुख्य इष्ट अपनी आत्मा को सुनियमित बनाना ही है। और उसी में उसका सच्चा सुख है; क्योंकि अपने मुख्य इष्ट को पाने के अलावा अधिक सुख और किस बात में हो सकता है ?

रूपों की धारणा (The Theory of Forms)

मानवी धर्मों (virtues) का अब तक किया गया विश्लेषण अलग से देखने पर विषयिसापेक्ष (subjective) मात्र ही लग सकता है। किंतु प्लेटो धर्म को दो अर्थों में विषयसापेक्ष मानता है। धर्म में सामाजिक विषयसापेक्षता होती है। धर्मप्रिय व्यक्ति न्याय पर आधारित समाज में ही हो सकता है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के चौथे अध्याय में सामाजिक आवश्यकताओं और कार्यों से चारों मूलभूत धर्मों (Cardinal virtues) की संवादिता दिखाकर उनका स्वतंत्र मूल्य प्रमाणित किया है। कार्यों को उचित ढंग से तभी किया जा सकता है जब उनके करने वालों में उनके करने योग्य धर्म हों।

धर्म एक दूसरी तरह से भी विषयसापेक्ष है। धर्म से हमारा अभिप्राय मानवी आचार से सम्बन्ध रखने वाला श्रेयस् है। श्रेयस् (Good) मनुष्य की धारणा मात्र ही नहीं है। मनुष्य की श्रेयस् की धारणाएँ श्रेयस् के रूप पर विचार करना ही है। सब लोग उसी को जानना चाहते हैं और जब ग़लती नहीं करते तो श्रेयस् की धारणा के अनुसार ही काम करते हैं। श्रेयस् के 'रूप' को स्पष्टतया देख लेने पर सब कुछ छोड़कर केवल उसी को पाने की चेष्टा की जाती है। शारीरिक अपूर्णताओं से हम उस 'रूप' को धुँधला देखते हैं। हम किसी गुफा में बन्द लोगों के समान हैं जो दीवारों पर बाहर प्रकाश में चलने वाली वास्तविक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब मात्र ही देखते हैं। प्रतिबिम्ब वास्तविक वस्तुओं के सदृश ही लगते हैं किंतु जागरूक आत्मा उनके इस सादृश्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह वास्तविक वस्तुओं और प्रकाश को पाने की चेष्टा करती है। हम साधारण अनुभव में जिन चीज़ों को देखते हैं और जिन इच्छाओं की अनुभूति करते हैं वे दीवार पर प्रतिबिम्ब की भाँति ही हैं। प्रतिबिम्बों में हमें इस बात का संकेत मिल जाता है कि उनसे परे भी कोई सत्य है और हमें उस सत्य को पाने का प्रयास करना चाहिए। क्या उस सत्य को पाना अनेकों की शक्ति के बाहर है? नहीं, यदि वे

अपना भ्रम छोड़ दें, क्योंकि श्रेयस् के रूप (Form of Good) की छाप हरेक की आत्मा पर है। यदि हम वाह्य वस्तुओं के आकर्षण में बह नहीं जाते तो हम श्रेयस् के रूप को जान सकते हैं।

२ अरस्तू

स्पष्ट है कि प्लेटो पूरा मानवतावादी नहीं है। उसकी नैतिकता जहाँ तक मनुष्य के स्वभाव में निहित अनेक पहलुओं के मूल्य को स्वीकार करती है वहाँ तक वह भावात्मक रूप से मानवतावाद का पोषण करती है; किंतु जैसा कि अभी दिखाया गया है उसका एक तार्किक (transcendental) पक्ष भी है। मानवतावादी श्रेयस्कर आदर्शों की अनुज्ञप्ति मानवेतर तत्वों की सत्ता से नहीं मानता।

इस बात में सुकरात (४६६-३६६ ई० पूर्व) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० पूर्व) दोनों ही प्लेटो से अधिक मानवतावादी हैं। चीन के कन्फ्यूशियस (५५१-४७८ ई० पूर्व) को छोड़कर सुकरात और अरस्तू पाश्चात्य जगत में मानवतावादी नीतिशास्त्र के सर्वप्रथम प्रतिपादक हैं। वे यूनानी नैतिकता के दायाधिकारी होने के नाते ही परस्पर सम्बन्धित नहीं है किंतु वे प्लेटो के द्वारा भी सम्बन्धित हैं जो सुकरात का अनुयायी और अरस्तू का अध्यापक था। किंतु उन दोनों की अभिरुचियों और शिक्षा देने के ढंग में ज़मीन आसमान का अन्तर था। सुकरात व्याख्यान या लम्बी बातचीत करना पसन्द नहीं करता था; वह दूसरे अध्याय में वर्णित प्रश्न-उत्तर का ढंग ही पसन्द करता था। वृद्धावस्था में जब प्लेटो उससे परिचित हुआ था तो उसकी रुचि विज्ञान से हटकर मानवी प्रश्नों की ओर लग गई थी। उसने लिखा कुछ नहीं था।

अरस्तू की शिक्षाएँ व्याख्यान के रूप में दी गई थीं। अरस्तू ने अपने समय की शिक्षा के हर विषय पर व्याख्यान दिए थे। तर्कशास्त्र, तत्वसमीक्षा, भौतिक विज्ञान (जिसमें जीवशास्त्र भी था), मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, भाषण कला, नाटकीय काव्य आदि

कुछ विषय थे जिन पर अरस्तू शिक्षा दिया करता था। अरस्तू की शिक्षाओं का अधिकांश उसके शिष्यों का लिखा जान पड़ता है। नीतिशास्त्र पर उसके व्याख्यानों का संग्रह उसके दामाद नाइकोमैकस ने किया था जिससे अरस्तू के नीतिशास्त्र को नाइकोमैकसीय (Nicomachean) नीतिशात्र कहा जाता है।

मनुष्य का परम हित

अरस्तू नीतिशास्त्र को उस विशाल अध्ययन की एक शाखा समझता है जिसे राजनीति कहा जाता है। उसके अनुसार मनुष्य एक 'राजनीतिक' प्राणी है क्योंकि वह अपने स्वभाव की क्षमताओं की पूर्त्ति एक व्यवस्थित समाज का अंग होने पर ही अच्छी तरह कर सकता है। "चीजों के प्राकृतिक क्रम में राज्य व्यक्ति और परिवार से उसी तरह पहले आता है जिस तरह सम्पूर्ण खण्ड से पहले आता है।" मनुष्य को इस दृष्टि से देखने पर उसका परम हित क्या है जिसके लिए वह सदा कोशिश करेगा? परम हित की सत्ता को होना चाहिए। इसका सबूत निम्नलिखित युक्ति से मिलता है: "प्रत्येक कला, खोज, काम और वरण का उद्देश्य कोई न कोई विशेष हित होता है; चिकित्साशास्त्र का उद्देश्य स्वास्थ्य को ठीक रखना है, सैनिक शिक्षा का उद्देश्य विजय पाना है, पारिवारिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य धन पाना है।" मनुष्य के इन विभिन्न साध्यों की परीक्षा करने पर उनमें श्रेणी-भेद मिलता है। "लगाम बनाना और घुड़सवारी की अन्य चीजों को तैयार करना घुड़सवारी की कला के अन्तर्गत है और घुड़सवारी की कला सैनिक-शास्त्र के अन्तर्गत है।" यही अन्य बातों के साथ भी है। प्रमुख-कलाओं के साध्य उनके अन्तर्गत कलाओं के साध्यों से अधिक अपेक्षित हैं क्योंकि अन्तर्गत कलाओं के साध्यों की खोज प्रमुख कलाओं के साध्यों के लिए ही की जाती है। किंतु प्रमुख-कलाओं के साध्य स्वयं क्या हैं? क्या वे भी किन्हीं अन्य साध्यों के अन्तर्गत हैं? हाँ, उचित रूप से निर्मित व्यक्ति के लिए हैं। युद्ध में सैनिक शास्त्री सैनिक-शास्त्र को स्वयं साध्य समझ सकता है; इसी तरह कंजूस धन को समझ

सकता है। किंतु मनुष्य ही सैनिक या कंजूस होने के नाते ऐसे असंतुलित मूल्यांकन करता है; मानवतावादी सिद्धान्त[1] के अनुसार मनुष्य को वरण और पसन्द मनुष्य के नाते ही करना चाहिए। निर्विशेष रूप से मनुष्य का प्रधान साध्य क्या है? वह साध्य अरस्तू के अनुसार मनःप्रसाद (eudaimonia) है।

किसी प्राचीन विचारक को समझने के लिए उसके शब्दों का स्पष्ट अर्थ जानना चाहिए। जिस यूनानी शब्द का अनुवाद यहाँ मनःप्रसाद किया गया है उसका अर्थ सुख न होकर वरण और निवारण के अच्छे आन्तरिक सिद्धान्त है। मनःप्रसाद का अर्थ है कि मनुष्य अपनी आत्मा को स्वस्थ करके शारीरिक और सामाजिक स्थिति का उपभोग पूर्णता के साथ कर सके।

मानवी कर्मों का साध्य मनःप्रसाद है इसे सब मानते हैं किंतु अधिकतर लोग मनःप्रसाद को सुख में समझते हैं। सुख मनःप्रसाद की एक आवश्यक शर्त है किंतु वह मनःप्रसाद को स्थाई बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। जो लोग सुख को ही सब कुछ समझते हैं "वे जानवरों के योग्य गुलामी को पसन्द करते हैं।" चूँकि सुख की इच्छा प्रबल होती है इसलिए उनका दृष्टिकोण अधिकतर लोग स्वीकार कर लेते हैं। किंतु मनुष्यों का एक छोटा समुदाय ऐसा भी होता है जिसमें कर्म की प्रधानता रहती है। उस समुदाय के लोग मनःप्रसाद को सम्मान और सफलता में मानकर अपने यश को बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। अरस्तू ऐसे लोगों

---

१ अरस्तू ने किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया है जिसका शाब्दिक अनुवाद मानवतावाद हो। जिन सिद्धान्तों को यहाँ मानवतावाद कहा गया है वे उसके लिए इतने स्पष्ट थे कि उसने उन्हें कोई नाम नहीं दिया। 'मनुष्य मनुष्य के नाते' या 'मनुष्य निर्विशेष रूप से' आदि अरस्तू और सुकरात द्वारा प्रयुक्त वाक्य मानवतावाद पर जोर देकर उसका समर्थन करते हैं।

को सुखों के दास बने रहने वाले लोगों से ज्यादा प्रशंसनीय समझता है। समानतन्त्र (commonwealth) की रक्षा और संचालन के लिए ऐसे आदमियों का होना जरूरी है। किंतु राजनैतिक सफलता को जीवन का साध्य समझने में दो कमियाँ हैं। राजनैतिक सफलता किसी एक व्यक्ति के प्रयास पर निर्भर न होकर अन्य व्यक्तियों के नियमानुसार काम करने पर भी निर्भर होती है। अच्छे आदमियों में सम्मान प्राप्ति की इच्छा का उद्देश्य अपनी ही योग्यता के प्रति विश्वास रखना होता है और वे अच्छे लोगों का सम्मान पाने के ही इच्छुक होते हैं क्योंकि वे अपने उन्हीं गुणों का सम्मान चाहते हैं जिन्हें अच्छे आदमी श्रेयस्कर समझते हैं। जो लोग अपने कामों के आधार पर विचार कर सकने की क्षमता रखते हैं उनके लिए नैतिक श्रेय का धर्म (virtue) सम्मान से अधिक मूलभूत है। धर्म, जिसके बारे में अभी विचार किया जायगा, अच्छे जीवन की सुख से अधिक आवश्यक शर्त है किंतु वह भी अपेक्षित मापदंड को पूरा नहीं करता क्योंकि "उसे नींद में ही पाया जा सकता है......दूसरे एक धार्मिक आदमी दरिद्र भी हो सकता है और दरिद्रता को कोई भी अच्छा जीवन नहीं कहेगा।" जीवन का एक रूप रुपया बनाना भी हो सकता है किंतु रुपया बनाना हमारा साध्य नहीं है "क्योंकि रुपया तो किसी और बात का केवल साधन मात्र ही है।" सुख और सफलता को जीवन का उद्देश्य बनाने में कमियाँ है अतएव जीवन का एक तीसरा रूप रह जाता है जो "मनन" (theoretikos) है। 'मनन' से अरस्तू का तात्पर्य 'जीवन को दृढ़ता और सम्पूर्णता के साथ देखना' है। मननशील जीवन की विशेषताओं पर आगे विचार किया जायगा।

खोज का मानवतावादी आधार

(The Humanistic Ground of Inquiry)

प्लेटो के शाश्वत रूपों (Eternal Forms) के सिद्धान्त की आलोचना में अरस्तू के मानवतावाद का निषेधात्मक पक्ष प्रकट होता है।

श्रेयस् (goodness) को अनुभवातीत (transcendent) और जगत के पदार्थों से विलक्षण मानने में अरस्तू को कई कठिनाइयाँ मिलती हैं : श्रेयस् उतना निरवयव (simple) नहीं है जितना कि प्लेटो की युक्ति से प्रकट होता है; (२) विशिष्ट श्रेयसों से अलग श्रेयस् के एक शाश्वत रूप की सत्ता मानने से विशिष्ट पदार्थों के श्रेयस् की व्याख्या नहीं होती वरन् एक नया तथ्य सामने आता है जिसको अपनी व्याख्या की ज़रूरत खुद होती है; (३) रूपों की शाश्वतता नैतिक समस्या पर कोई असर नहीं डालती क्योंकि "सफेद सदा सफेद ही रहेगा चाहे वह बहुत दिनों रहे या एक ही दिन, इसी प्रकार आदर्श श्रेयस् (Ideal Good) शाश्वत होने के नाते अधिक श्रेयस् नहीं हो जायगा;" और (४) सबसे आवश्यक बात यहाँ यह है कि श्रेयस् का शाश्वत रूप अनुभवातीत होने से "व्यावहारिक और मनुष्य द्वारा प्राप्य नहीं है जबकि जिस श्रेयस् को नैतिकता में खोजा जाता है उसे मानवी पहुँच के अन्दर होना चाहिए।" फिर अनुभवातीत धारणाओं में श्रेयस् को खोजने से क्या लाभ ? मनुष्य का श्रेयस् हमारी आँखों के सामने मनुष्य के स्वभाव में ही मिलता है। जिस प्रकार किसी चीज की श्रेष्ठता उसकी स्वाभाविक योग्यता में होती है उसी प्रकार मनुष्य का श्रेय उसकी स्वाभाविक क्षमताओं के अध्ययन से ही जाना जा सकता है।

मनुष्य की स्वाभिवक क्षमता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अरस्तू की प्राकृतिक पदार्थों की तार्किक व्यवस्था की धारणा पर निर्भर है। पदार्थों का प्राकृतिक वर्गीकरण किया जा सकता है। सारे भौतिक पदार्थ या तो जड़ होते हैं या चेतन। अरस्तू प्राकृतिक पदार्थों के इस वर्गीकरण को मुख्य समझता है। चेतन पदार्थ पशुओं और पशुओं से इतर प्राणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार पशुओं में भी कई श्रेणी विभाग किये जा सकते हैं। मनुष्यों का विभाग उनके कामों के अनुसार किया जा सकता है। कामों के अनुसार वर्गीकरण करना अरस्तू के दर्शन की मुख्य बात है; अरस्तू का प्राकृतिक दर्शन, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र उसी की

शृंखला से ग्रथित है। अतएव उसके संभव निगमनों को देखने के लिये हमें उसके उपयोजनों की परीक्षा करनी चाहिये।

वर्गीकरण में किसी उपजाति को उससे बड़ी जाति के अन्तर्गत रक्खा जाता है। मनुष्य को पशु और पशु को प्राणियों की जाति में रक्खा जाता है। जाति का अर्थ उपजाति के अर्थ से ज्यादा बड़ा होता है। उपजाति की विशेषता उसके भेद (differentia) से बताई जाती है। किसी वर्ग की परिभाषा में उसकी जाति तथा भेद दोनों बताने पड़ते हैं, जैसे मनुष्य पशु होने के साथ साथ चिंतन की क्षमता भी रखता है। अरस्तू की मानवी श्रेय की परिभाषा में यह विशिष्ट भेद ही मूल आधार है। मनुष्य में मनुष्य होने के नाते चिंतन की क्षमता होती है; पशु होने के नाते संवेदन और अन्तर्प्रेरणा होती है; चेतन पदार्थ होने के नाते चेतन पदार्थ के गुण होते हैं। नीतिशास्त्र में इन सबकी क्या महत्ता है?

अरस्तू का नीतिशास्त्र उसके प्राकृतिक दर्शन और तर्कशास्त्र से समन्वित है। जब वह हरेक उपजाति के भेद को गुण न मानकर क्षमता या कार्यशक्ति—किसी विशेष ढङ्ग से काम करने की प्रवृत्ति—मानता है तो वह तर्कशास्त्र से प्राकृतिक दर्शन की ओर आता है। पदार्थ का श्रेयस्कर होना किस बात में है? इस प्रश्न को उठाकर वह प्राकृतिक दर्शन से नीतिशास्त्र पर आता है। अरस्तू उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह देता है: पदार्थ की स्वाभाविक कार्यवृत्ति का पता लगा लेने से उस पदार्थ का 'धर्म' या श्रेयस्कर होना उसके ठीक तरह से काम कर सकने में होगा। पेड़, मकड़ी और मनुष्य के धर्म का निश्चय उनकी स्वाभाविक क्षमताओं के आधार पर अलग अलग करना चाहिये। इसी प्रकार मनुष्य का सामान्य धर्म उसके कलाकौशल में निपुण होने से अलग है। किसी आदमी को इसलिये श्रेष्ठ नहीं माना जाता क्योंकि वह अच्छा गवैया है या चतुर माली है। मनुष्य का उचित धर्म उन क्षमताओं को पूरा करने में है जो उसे मनुष्य होने के नाते मिली हैं और जो उसे अन्य प्राणियों की उपजातियों से अलग करती हैं। चूँकि मनुष्य में चिंतन कर सकने की योग्यता

है इसलिये उसकी श्रेष्ठता उसकी इस योग्यता के विकास से माननी चाहिये।

चिंतन शक्ति का प्रयोग दो तरह से किया जा सकता है। मनुष्य की 'आत्मा' या जीव के तीन भाग हैं : बौद्धिक, संवेदनात्मक (appetitive) और वानस्पतिक (vegetative)। वानस्पतिक भाग पर बौद्धिक नियंत्रण नहीं हो सकता किंतु संवेदनात्मक पर हो सकता है। अतएव बुद्धि में विश्व का मनन करने की शक्ति के अलावा मनोभावों पर नियंत्रण कर सकने की शक्ति भी है। अतएव आत्मा के दो धर्म हैं, एक तो बौद्धिक और दूसरा नैतिक। दार्शनिक मनन बौद्धिक धर्म है और इच्छाओं पर अंकुश लगाना नैतिक। किंतु कोई व्यक्ति अपनी कार्यशक्ति को कभी कभी प्रकट कर देने से ही 'धार्मिक' नहीं बन जाता। 'धार्मिक' व्यक्ति वही है जिसमें उचित चिंतन या उचित काम करने की आदत पड़ गई है; दूसरे शब्दों में 'धार्मिक' व्यक्ति वही है जिसमें उचित काम और उचित चिंतन उसका टिकाऊ चरित्र बन गया है।

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त (The Doctrine of Mean)

नैतिक धर्म तभी विद्यमान होता है जब बुद्धि मनोवेगों का ठीक ढंग से नियंत्रण करती है। किंतु वह ठीक ढंग क्या है ? अरस्तू का उत्तर है :

> जिन धर्मों पर हम वाद विवाद कर रहे थे (अर्थात् नैतिक धर्म) वे अभाव या आधिक्य से नष्ट हो जाते हैं। व्यायाम के आधिक्य और कमी दोनों से स्वास्थ्य ख़राब हो जाता है; वह ज़्यादा या कम खाने से भी बिगड़ जाता है किंतु उचित खाने से अच्छा रहता है और विकसित होता है। यही बात साहस, सौम्यता और अन्य धर्मों के साथ भी है : जो व्यक्ति हर चीज़ से डरता है वह कायर है और जो एकदम निडर है वह उजड्ड है। इसी तरह जो व्यक्ति हर तरह के सुख में लिप्त रहता है वह विलासी है और जो हर तरह के सुख से भागता है उसमें अनुभूति नहीं

है। अतएव सौम्यता और साहस कमी या ज्यादती से नष्ट हो जाते हैं किंतु ठीक अनुपात में सुरक्षित रहते हैं।[1]

मध्यम मार्ग के अनुसार काम करने का अर्थ क्या है? गणित की भाँति नैतिक काम का मध्यम मार्ग कम या ज्यादा के बीच का मार्ग नहीं है। नैतिक मध्यम मार्ग परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। सैनिक में दूकानदार से अधिक साहस होना चाहिए और उसका साहस उद्दण्डता के समान लग सकता है। यह बात केवल कामों पर ही लागू न होकर अनुभूतियों पर भी लागू होती है।

उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति कम या ज्यादा डर, साहस, इच्छा, क्रोध, दया, सुख और दुख का ग़लत या सही अनुभव कर सकता है। किंतु उचित समय, उचित अवसर पर, उचित व्यक्ति के प्रति उचित उद्देश्य से इन सबकी अनुभूति करना ही मध्यम मार्ग और धर्म का चिह्न है।[2]

इससे स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग का सिद्धान्त कोई साधारण सी बात नहीं है। इस सिद्धान्त का निर्णय और उपयोजन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। मध्यम मार्ग हमसे और प्रभावित होने वाली सभी घटनाओं और व्यक्तियों से सापेक्षता रखता है और उसका निर्धारण बुद्धि द्वारा होता है जिसे केवल विवेकशील और विकसित चरित्र का व्यक्ति ही कर सकता है।

मध्यम मार्ग का सुखों और दुखों से सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। मनुष्य एकाध अच्छा काम कर देने से ही धार्मिक नहीं हो जाता वरन् अच्छे कामों को करने की आदत डालने से होता है और जब आदत पड़ जाती है तो उसके अनुसार काम करना सुखकर होता है इसलिए सुख और दुख को नैतिकता की कसौटी बनाया जा सकता है। क्या शूरतापूर्ण

---

१ नाइकोमैकियन एथिक्स, पु० २, परि० २

२ वही, पु० २, परि० ६

काम करने वाला करने के समय संकोच करता है ? यदि वह संकोच करता है तो उसमें अभी शूरतापूर्ण काम करने की आदत नहीं पड़ी है। सौम्य व्यक्ति सौम्य स्थिति में आनन्द लेता है या अपने मन में कपट रखता है ? इसकी परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि मानवी आचरण के नियमों के अपवाद भी होते हैं; किंतु इससे यह चेतावनी मिलती है कि नैतिकता का निर्णय एक काम से न होकर विकसित प्रवृत्ति से होता है।

आदर्श जीवन

नैतिक धर्म की परीक्षा करने के बाद अब हमें अच्छे जीवन के प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि नैतिक धर्म का विकास जीवन के हित या अच्छाई के लिए ही किया जाता है। नैतिक धर्म और स्वस्थ-जीवन में तादात्म्य नहीं है; स्वस्थ-जीवन स्वयं पूर्ण और पर्याप्त होता है। किंतु नैतिक धर्म किसी और बात की अपेक्षा रखता है क्योंकि जिस धार्मिक जीवन में सुख का अत्यन्त अभाव हो या दुख का आधिक्य हो उसे नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं कहा जा सकता।

तो क्या सुख स्वस्थ-जीवन की पर्याप्त कसौटी है ? नहीं, बिल्कुल नहीं। सुख एक तरह का हित अवश्य है क्योंकि लोग उसकी कामना करते हैं किंतु वह प्रधान हित नहीं है। प्रधान हित स्वस्थ-जीवन ही है और स्वस्थ जीवन आत्मा की क्रिया है जबकि सुख एक अनुभूति मात्र ही है। यदि सुख ही सब कुछ होता तो उन सेवकों का जीवन जिनके ऊपर कम उत्तरदायित्व हैं अपने स्वामियों से अधिक अच्छा होता। किंतु सेवक का जीवन स्वस्थ-जीवन नहीं है क्योंकि वह दूसरे के ऊपर निर्भर है। सुख स्वस्थ-जीवन का आन्तरिक सिद्धान्त नहीं है, वह स्वस्थ जीवन की प्रफुल्लता ही है।

मनुष्य का सबसे अच्छा मापदंड सुख या नैतिक धर्म न होकर मनन् या चिंतन को स्वयं साध्य बनाने का आनन्द लेना है। मनन् से अरस्तू का अभिप्राय हवाई क़िले बनाना नहीं है। विकसित मनुष्य में चिंतन का

निष्काम उपभोग उसकी सम्पूर्ण आत्मा की प्रामाणिक अभिव्यक्ति बन सकता है। किंतु नैतिक धर्म तो भी एक आदर्श बना रहता है क्योंकि मनन ठीक से तभी हो सकता है जब नैतिक धर्म आदत और चरित्र उत्तम बन जाय। मनन् में सुख का अभाव नहीं होता क्योंकि जब मनन् करना आदत बन जाता है तो उससे बढ़कर सुख किसी और बात में नहीं मिल सकता। इस दृष्टि से देखने पर मननशील जीवन मानवतावादी आदर्श का एक प्रधान अंग है और यह आदर्श मनुष्य के सम्पूर्ण स्वभाव के साथ न्याय करता है।

३. संस्कृत मनुष्य का मापदंड

पाश्चात्य मानवतावादी विचारकों ने अन्य सम्प्रदाय के विचारकों की भाँति अपनी शिक्षाओं को व्यवस्थित करने में अधिक रुचि नहीं दिखाई है। इसमें उन लोगों ने अक़्लमन्दी ही दिखाई है क्योंकि जो दर्शन मानवी स्वभाव के अनुभव की सत्यता पर आधारित है उसमें अनुभवों और अन्तर्दृष्टि का विकास होने पर लगातार परिवर्तन करने की आवश्यकता है। फिर भी नीचे मानवतावादी नीतिशास्त्र की कुछ विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

एपीक्यूरसीय और स्टोइक तत्व

जैसा कि देखा जा चुका है, अरस्तू ने सुख को श्रेयस्कर जीवन का एक आवश्यक अंग तो माना था किंतु उसे पर्याप्त नहीं समझा था। यह एक संतुलित दृष्टिकोण है और सुखों के विषय में इस दृष्टिकोण का प्रसिद्ध मानवतावादी और निबन्धकार मांतेन (१५३३-१५९२) ने भी समर्थन किया था। मांतेन अपने को 'पार्थिव जगत का प्राणी' घोषित करता था और 'शरीर की चिंता न करने वाले अमानुषिक मनुष्यों का तिरस्कार' करता था। सुख का महत्त्व समझना चाहिए; मांतेन उन लोगों से घृणा करता है जो सुख के उचित महत्त्व को ठीक तरह से नहीं समझते।

क्या मनुष्य दुखी प्राणी नहीं है? उसका स्वभाव ही ऐसा

> है कि वह शुद्ध और पूर्ण सुख का उपभोग नहीं कर पाता फिर भी वह सुख का दमन करने की फिक्र में रहता है......
>
> मनुष्य अपने ज्ञान द्वारा मूर्खता में पड़कर उन सुखों को कम कर लेता है जिनका उपभोग करना उसका अधिकार है; वह अपने क्लेशों को अपनी कृत्रिम तरकीबों से सफलतापूर्वक छिपाने की कोशिश करता है।[1]

दूसरी ओर सुखों में अतिशय आसक्ति भी बुरी है। सुखों पर नियन्त्रण रखना चाहिए और उनका उपभोग उचित सीमा तक ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रणय के सुख को विवाह द्वारा पवित्र बना दिया गया है। अतएव "विवाहित सुख में नियंत्रण और गम्भीरता होनी चाहिए; वहाँ वासना को विवेकपूर्ण होना चाहिए।" सुनहला मध्यम मार्ग ही सुखों और अन्य वरणीय कामों का नियम है। जिन सुखों से असन्तोष पैदा होता है उनसे बचना चाहिए। दर्शन सुखों से विमुख होना न बताकर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना बताता है। मन को सदा शारीरिक सुखों में आसक्त नहीं रखना चाहिए। दर्शन हमें "ज्यादा खाकर भूख को उत्तेजित करने और अभाव पैदा करने वाले सुखों से बचने की" चेतावनी देता है। सुखों के प्रति मांतेन का यह दृष्टिकोण एपीक्यूरस के संस्कृत सुखवाद के बहुत समीप आ जाता है।

मानवी स्वभाव के बारे में मानवतावादी दार्शनिक एपीक्यूरसीय और स्टोइक दोनों प्रवृत्तियों को आवश्यक समझता है। विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) ने, जिसे मानवतावादी कहा जा सकता है, नैतिक प्रवृत्तियों के इस विरोध का वर्णन यों किया है :

> व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य के नैतिक जीवन का प्रमुख भेद विलासिता और कठोरता का भेद है। विलासिता में हम वर्तमान क्लेशों से बचते हैं किंतु कठोरता में हम उनके प्रति

---

१ दि एसेज़, पु० १, परि० ३०

> उदासीन रहते हैं, यदि हम बड़े आदर्श को प्राप्त कर सकें तो। कठोरता हर व्यक्ति में होती है किंतु कुछ लोगों में उसका जागरूक होना कठिन होता है। उसको पाशविक उद्वेगों, बड़े-बड़े डरों, प्रेमों और क्रोधों से ही जागरूक किया जा सकता है; या उसको जागरूक करने के लिए न्याय, सत्य या स्वतंत्रता जैसी श्रेष्ठ बातों का आधार लेना पड़ता है।[1]

चूँकि विलासिता और कठोरता दोनों ही मनुष्य के जीवन के अंग हैं अतएव मानवतावादी नीतिशास्त्र में एपीक्यूरसीय और स्टोइक दोनों नैतिक अन्तर्दृष्टियों को प्रतिष्ठित करना चाहिए।

स्टोइक लोग मन की स्वतंत्रता और कुलीनता को बहुत श्रेयस्कर मानते हैं; ये गुण उनके मृत्यु सम्बन्धी दृष्टिकोण में अधिक स्पष्टता से परिलक्षित होते हैं। वे मृत्यु को अवश्यम्भावी समझकर उससे डरते नहीं। वे जीवन को हर तरह की निरर्थक बात से प्रभावित हो जाने वाली एक साँस मात्र ही समझते हैं जो मनुष्य को कुछ समय के लिए कष्ट देती रहती है। एपीक्यूरसीय व्यक्ति मृत्यु का सामना साहसपूर्वक न कर तर्कपूर्वक करता है और उसको दुखमय नहीं मानता किंतु स्टोइक मृत्यु का सामना साहसपूर्वक करता है चाहे वह दुखमय ही क्यों न हो क्योंकि वह दुख को भी नीचा दिखाना चाहता है। इस स्टोइक प्रवृत्ति को मानवतावादी मांतेन ने यों अभिव्यक्त किया है :

> जिस तरह हमें भागते देखकर शत्रु और भी भयंकर हो जाता है उसी प्रकार हमें डरते और काँपते देखकर दुख को गर्व होता है। दुख अपना विरोध करने वाले से आसानी से हार जाता है। हमें डटकर उसका प्रतिरोध करना चाहिए। दुख के सामने घुटने टेक देने से हम अपने विनाश को निमंत्रण दे देते हैं। जिस तरह शरीर दृढ़ होने से आक्रमण का प्रतिरोध

---

१ दि विल टु बिलीव एंड अदर एसेज़, पृ० २११ (लांगमैन्स, ग्रीन)

अच्छी तरह कर सकता है उसी तरह आत्मा भी करती है।[1]

सामञ्जस्य का सिद्धान्त (The Principle of Harmony)

मांतेन का कहना है कि "लक्ष्य से परे और लक्ष्य से कम निशाना साधने वाला धनुर्धारी चूक जाता है। ज्यादा चमक और गहरे अँधेरे में जाने पर आँख को तकलीफ होती है।" हमें अपना निर्देशन कैसे करना चाहिए ? इस प्रश्न को उठाने वालों के लिए मांतेन उपर्युक्त उत्तर देता है। हमारा मापदंड क्या होना चाहिए ? इसका उत्तर मांतेन अरस्तू की भाँति ही देता है : "हर स्थिति में मध्यम मार्ग का अनुसरण करो।" "स्वस्थ-जीवन के नियम हमें अपने अन्दर ढूँढने चाहिएँ।" प्रथाओं का तिरस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि वे ग़लत या मूर्खता-पूर्ण होने पर भी प्राचीन युग के अर्जित ज्ञान पर अवलम्बित होती हैं। किंतु नैतिकता प्रथाओं से एकदम स्वतंत्र न होते हुए भी उनसे श्रेष्ठ है। नैतिकता का आधार प्रथा, राजनैतिक नियम या ईश्वर की दुहाई न होकर चरित्र है। मानवतावादी चरित्र को नियमित रखने का सिद्धान्त मध्यम मार्ग या मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने वाली सभी आवश्यकताओं और इच्छाओं के सामञ्जस्यपूर्ण विकास में पाता है। मध्यम मार्ग और सामञ्जस्य दो आदर्श न होकर एक ही हैं। प्लेटो सामञ्जस्य का आदर्श इच्छाओं और अभिरुचियों को नियमित करने वाले सिद्धान्त में मानता है। नियमित करने वाला सिद्धान्त कोई कठोर हार्दिक नियम नहीं है। किसी स्थिति से मन का स्वस्थ समन्वय करने और आन्तरिक दृष्टिक्षेत्र के उचित होने पर ही नियमन सिद्धान्त को ठीक तरह से समझा और लागू किया जा सकता है।

क्या मानवतावाद काफी है ?

परिस्थितियाँ और मिजाज़ जहाँ तक आज्ञा दे वहाँ तक जीवन के लिए सामञ्जस्य का सिद्धान्त प्रशंसनीय है। शायद आदर्श संसार में

---

१ एसेज़, पु० १, परि० १४.

सब लोग मानवतावादी ही हों। जिस मनुष्य की शारीरिक, आर्थिक, यौनिक और कलात्मक ये सारी इच्छाएँ पूरी हो सकें वह संतुलित जीवन बिता सकता है। ऐसे भाग्यशाली लोग कम ही होते हैं और आज के दारुण इतिहास में तो बहुत ही कम हैं। संघर्ष और अनिश्चय के इस युग में केवल नैतिक प्रतिभावान् व्यक्ति ही अविचलित और स्थिर होकर विचार कर सकता है। घटना प्रवाह में बह जाने वाले हममें से बहुत से लोग नैतिक संतुलन पर पूरा भरोसा नहीं कर सकते। जब तक लोग किसी भ्रमात्मक सुखवादी विचारधारा में न बह रहे हों तक तक उनमें से अधिकांश जीवन के किसी कठोर आदर्श को ही अपनाते हैं। मानवतावादी दर्शन प्राचीन स्वर्ण युग में स्वीकृत रहा होगा किंतु वह आज के क्रांति और संघर्षमय जगत में पड़े लोगों की आवश्यकताओं के लिए ज्यादा ठीक नहीं है। गत पचास वर्षों के युद्ध और शांति के भ्रम से जागने से कई मानवतावादियों के सामने दो प्रमुख माँगें हैं : एक तो ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाने की सारी आर्थिक और राजनैतिक सुविधाएँ हों और दूसरे पुराने मृत विचारों और विश्वासों को मिटाकर उनकी जगह मनुष्य की चेष्टाओं और भाग्य को नया अर्थ और मूल्य देना। ये दोनों माँगे मानवतावाद की पूरक ही हैं क्योंकि मानवतावाद का आदर्श मानवी स्वभाव के सारे पहलुओं का समन्वय करना है। किंतु मानवतावादी आदर्श को तभी समझा और लागू किया जा सकता है जब समाज का हर व्यक्ति अपने आन्तरिक दृष्टि-क्षेत्र को ठीक करके सम्पूर्ण स्थिति और सब लोगों से अपना स्वस्थ समन्वय कर सके। यदि यह कभी संभव था और आज नहीं है तो इसका कारण शिक्षा की ठीक व्यवस्था का अभाव है।

अहम् की समस्याएँ

(The Problems of Selfhood)

हम अपने लिए चाहे किसी भी नैतिक आदर्श को अच्छा क्यों न समझें किंतु उसको व्यवहार में लाना कठिन काम है। विशेष अवसरों पर नैतिक आदर्श को व्यवहार में ले आना ही काफी नहीं है और उसे लक्ष्य भी नहीं समझना चाहिये। अच्छा आदमी हर काम को करने के लिए अपनी आदतों को पक्का बना लेता है। नकल या अविवेक बुरी आदतों की ओर ले जा सकता है; सोच विचार कर आदतें बनाना और उन्हीं के अनुसार चलना जरा कठिन है। पिछले अध्याय में कहा गया था कि मनुष्य अपना पुनिर्माण कर सकता है और वह जो कुछ बनना चाहता है उसके बारे में किसी हद तक निश्चय भी कर सकता है। यह बात मशीनी प्रवृत्ति रखने वाले आलोचक के लिए एक विरोधाभास है। अपने वर्त्तमान युग में हम मशीन ही को आदर्श समझते हैं। मशीन बाहर से संचालित होती है और बिगड़ने पर वाह्य साधनों से दुरुस्त भी की जाती है। यदि मशीन के साधर्म्य से तर्क करके निष्कर्ष निकाला जाय तो मशीन को संचालित करने वाली शक्ति में उद्देश्य होता है। मशीन को ठीक करनेवाले कारीगर का भी उद्देश्य होता है। यदि मनुष्य को भी मशीन समझा जाय तो उसको ठीक करने के लिए विश्वकर्मा या ईश्वर जैसे कारीगर की अपेक्षा होगी। किंतु हम एक ओर मनुष्य की व्याख्या करने के लिए मशीन को आदर्श बनाते हैं और दूसरी ओर उस आदर्श के तार्किक परिणाम की उपेक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य का मशीनीकरण बौद्धिक सिद्धान्त नहीं है और अहम का स्वभाव समझने के लिए उससे बचना चाहिये, नहीं तो उनसे हमारी खोज में बाधा पड़ेगी। अतएव

इस अध्याय में पहले तो अहम के स्वभाव पर विचार किया जायगा जिसके कारण अहम और पदार्थों में भेद होता है और फिर धर्म और अधर्म (virtue and vices) के नैतिक प्रश्न पर विचार किया जायगा जिससे अहम का चरित्र निर्मित होता है और किया जा सकता है।

१ अहम् क्या है ?

हम सब "मैं" "मुझे" "मेरा" आदि शब्दों को रोजाना प्रयोग में लाते हैं किंतु उनके अर्थ में बहुत सी असंगति होती है। 'यह मेरी किताब है' 'मैं प्यासा हूँ' 'मैंने भाग्य स्वयं बनाया है' 'मुझे चोट लग गई' 'मैं आत्मसम्मानी हूँ' 'मुझे आत्मज्ञान है' आदि वाक्यों में मैं (अहम्) शब्द का एक ही प्रयोग नहीं मिलता। 'अहम्' (यानी मैं) विभिन्न वस्तुओं से विभिन्न तरह से सम्बन्धित होता है। हमारा "मैं" समाज में, घर पर, अपरिचित व्यक्ति से मिलने पर, आर्थिक क्षेत्र आदि में प्रतिक्षण बदलता रहता है। नैतिकता का निर्णय करने के लिए हमें "मैं" (अहम्) की संकुचित धारणा से बचना चाहिए और "मैं" को सम्पूर्णता के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिए। "मैं" या अहम् के स्वभाव की परिभाषा नहीं दी जा सकती किंतु फिर भी उसी दो विशेषताओं की ओर संकेत किया जा सकता है : और वे विशेषताएँ हैं आत्मोत्सर्ग (self transcendence) और आत्मसंचालन (self direction)।

आत्मोत्सर्ग

अहम् की निश्चित सीमाएँ नहीं हैं। इस कथन में ऊपर से देखने पर विरोधाभास लग सकता है किंतु यह एक तात्विक सत्य है। जड़ और निश्चल वस्तुओं की ही निश्चित सीमाएँ होती हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत और चीन की निश्चित सीमाएँ हैं। किंतु मानवी संस्कृति और मानवी अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। अहम् शरीर की भाँति कोई निश्चित इकाई नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि "ये ये बातें मनुष्य

का व्यक्तित्व बनाती हैं।" दूसरे शब्दों में अहम् आत्मोत्सर्ग है। अहम् की यह प्रमुख विशेषता अनेक पहलुओं से देखी जा सकती है।

निश्चित सीमाओं के बाहर अहम् के उत्सर्ग का पहला पहलू पदार्थों के ज्ञान में मिलता है। हमें अपने शरीर का ही घनिष्ठ ज्ञान होता है। शरीर को अहम् द्वारा ज्ञेय वस्तु माना जाय या अहम् का ही एक अंश? विशेष अभिरुचियों और विशेष अवसरों के लिहाज़ से इस प्रश्न के दोनों उत्तर हो सकते हैं। कुछ शारीरिक अंग अहम् से अधिक घनिष्ठ होते हैं। मनुष्य के निर्माण में कपड़ों का भी बड़ा हाथ होता है; नए कपड़े पहनकर लोग अपने को 'नया आदमी' समझने लगते हैं। मनुष्य का अपनी मूल्यवान वस्तुओं से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है।

> यदि किसी की पुस्तक की पांडुलिपि या कोई जीवन भर की मेहनत का काम नष्ट हो जाय तो उसे लगता है जैसे कि उसी का नाश हो गया हो। कंजूस को अपना धन चले जाने पर ऐसा ही लगता है। यह सच है कि किसी मूल्यवान वस्तु के नष्ट हो जाने पर जी का बैठ जाना इस अनुभूति के कारण ही होता है कि हमें उस वस्तु से विहीन होकर जीवन बिताना पड़ेगा किंतु फिर भी हमें यह सब होते हुए अपने व्यक्तित्व के सिकुड़ने या एक प्रकार की शून्यता का अनुभव होता है जो स्वयं एक मनोविज्ञानीय तथ्य है।[1]

किसी वस्तु के खो जाने पर हमें अपने 'व्यक्तित्व के सिकुड़ने' का अनुभव तत्काल होता है और किसी नई चीज़ के मिल जाने पर लगता है मानों हमारे व्यक्तित्व का घाव पुर गया हो।

सामान्यतः यह दिखाया जा सकता है कि ज्ञान होने के समय अहम् का पदार्थों से आंशिक तादात्म्य स्थापित होता है। आम के पेड़ को

---

१ विलियम जेम्स, प्रिंसिपिल्स आव् साइकॉलॉजी, जि० १, पृ० २१३।

देखकर हम यह सोचते हैं कि आम कब पकेंगे। हमें आम के पेड़ का बोध होता है और हम आमों के बारे में सोचते हैं किंतु हम आम के पेड़ के बोध और आम के बारे में सोचने की चिंता नहीं करते। हम यह नहीं पूछते कि आम के बारे में हमारे विचार कब पकेंगे क्योंकि आमों के पकने पर हमारा विचार अन्य बातों की ओर जा सकता है। तब क्या हम यह कह सकते हैं कि पेड़ एक चीज़ है और पेड़ के बारे में हमारा सोचना दूसरी चीज़ ? यदि ऐसा हो तो वे दोनों कैसे सम्बन्धित हैं ? इस ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि हमारे दिमाग़ में पेड़ का मानसिक चित्र होता है जो पेड़ से समानता रखता है किंतु स्वयं पेड़ की भौतिक जगत में वाह्य सत्ता होती है। इस व्याख्या की आलोचना पर वाद विवाद करना इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर है। फिर भी कुछ कठिनाइयों को संक्षेप में देखा जा सकता है : (१) हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारा मानसिक चित्र पेड़ से संवादिता रखता है और इसलिए हम उन दोनों की तुलना कैसे कर सकते हैं ? (२) अपने मानसिक चित्र के आधार पर हम यह कैसे जान सकते हैं कि पेड़ की वाह्य सत्ता है ? (३) क्या मानसिक चित्र सिर में रहता है ? क्या हमारे सिर की विज्ञानीय परीक्षा से पेड़ के चित्र को जाना जा सकता है ? नहीं। किंतु चूँकि पेड़ में प्रासरिकता (spatiality) होती है इसलिए यह पूछना उचित है कि यदि पेड़ का मानसिक चित्र सिर में नहीं होता और उन दोनों में तादात्म्य नहीं होता तो हमें पेड़ का बोध होता कैसे है ? इसका एकमात्र समीचीन उत्तर यह है कि पेड़ और उसका बोध एक ही ज्ञान के दो पहलू हैं। सिद्धान्तीकरण के कारण ही पेड़ और उसके बोध को अलग-अलग समझा जाता है। इकाइयाँ, चाहे वे किसी प्रकार की क्यों न हों, सैद्धान्तिक होती हैं और उनसे वास्तविकता का किसी मात्रा तक खण्डन हो जाता है; अहम् जैसी जटिल और अस्थाई इकाई के बारे में तो यह और भी सच है।

दूसरों के अहम् से आंशिक तादात्म्य करने पर भी अहम् का अपनी

सीमाओं के बाहर उत्सर्ग हो जाता है। विलियम जेम्स का कहना है कि "व्यक्ति जितने आदमियों से परिचित होता है उसके अहम् के उतने ही सामाजिक पक्ष होते हैं। उनमें से किसी को भी चोट पहुँचाना उस व्यक्ति को चोट पहुँचाना होता है।" हमारी सत्ता दूसरों के मानसिक चित्रों में ही नहीं होती वरन् हम अन्य लोगों के प्रति कुछ रागात्मक प्रवृत्तियाँ भी रखते हैं। अनुकूल परिस्थिति में एक अहम् का दूसरे अहम् से नैसर्गिक सम्बन्ध होता है और यही उदारतापूर्ण कामों का आधार है। स्वार्थपरता और उदारता में यद्यपि मेल नहीं होता किंतु यह आवश्यक नहीं है। जब अहम् का इतना विकास कर लिया जाता है कि उसमें अधिक से अधिक लोगों की अभिरुचियों का समावेश हो सके तो उदारता आत्म अभिव्यक्ति का ही एक पहलू बन जाती है।

अन्य पदार्थों और अहम् के बोध के साथ अहम् को अपना बोध भी हो सकता है। 'आत्मन् विद' (अपनी आत्मा को पहचानो) सबसे बड़ी नैतिक शिक्षा है। अहम् को जानने से ही स्वसंचालन उत्तरदायित्व के साथ किया जा सकता है।

क्या आत्मोत्सर्ग का चौथा रहस्यवादी ढंग भी है जिसमें अहम् ईश्वर से एकाकार होकर अपना व्यक्तित्व नष्ट कर देता है? यह नैतिक क्षेत्र की बात न होकर धार्मिक क्षेत्र की बात है। रहस्यवादी के लिए आत्मोत्सर्ग रहस्यवाद द्वारा ही संभव है।

कल्पना का काम (The Role of Imagination)

चूँकि मनुष्य कल्पना कर सकता है इसलिए उसके लिए आत्मोत्सर्ग संभव है। वैकल्पिक कामों का वरण कल्पना द्वारा ही किया जाता है इसलिए कल्पना नैतिक चेतना या नैतिकता की एक प्रमुख शक्ति है। फिर भी कल्पना शक्ति सब लोगों में समान नहीं होती और इसलिए उनमें नैतिक श्रेय का भाव भी एक सा नहीं हो सकता। किंतु नैतिक बनने के लिए कल्पना के साथ काम करना भी जरूरी है। जिस मनुष्य में कल्पना नहीं होती वह अपने समाज की प्रथाओं के अनुसार चलता है। अनैतिक

होने से परम्परागत नैतिकता का पालन करना अच्छा है। किंतु परम्पराएँ बदलती रहती हैं और कभी कभी वे बुरे के लिए भी बदल जाती हैं और उस स्थिति में नैतिक मापदण्ड दृढ़ रूप से कल्पना कर सकने वालों के हाथ में ही रहता है।

मानवतावादी नीतिशास्त्र मनुष्य की, कल्पना द्वारा, दूरस्थ वस्तुओं, अन्य लोगों और प्राप्य आदर्शों से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकने की योग्यता को एक स्वयंसिद्ध सत्य मानता है। इस तरह मानवतावाद बेन्थम और स्पेंसर के 'परमाणुवादी हेत्वाभास' (atomistic fallacy) को ठीक कर देता है जिसके अनुसार मानवी चेतनता को आत्मपूर्ण तथ्य माना जाता था। चेतनता आत्म-पूर्ण कभी नहीं हो सकती। चेतनता न तो मानसिक अवस्थाओं का समुदाय है और न ही किसी चीज़ का परिणाम या प्रतिक्रिया। जो लोग उसे मानसिक अवस्थाओं का समुदाय समझते हैं वे उसे निर्जीव बना देते हैं; जो लोग उसे परिणाम या प्रतिक्रिया समझते हैं वे यह भूल जाते हैं कि वह पदार्थों की उस व्यवस्था को किसी तरह जानती है जो उनकी शर्त है। किसी काम की शर्तों में अन्तर्दृष्टि रखना उस काम के निर्धारण में बड़ा महत्व रखती है चाहे उसका परिगणन न किया जा सके। सार्थक निश्चय उसी की आधार पर किये जाते हैं।

आत्म-संचालन (Self Direction)

आत्मोत्सर्ग सामान्य दृष्टि से देखने पर अराजक (anarchical) हो सकता है और उसमें विकास के किसी विशेष मार्ग को पसन्द करने का सिद्धांत नहीं हो सकता। श्रद्धा और अनुराग भी एक तरह का आत्मोत्सर्ग है किंतु कुछ अनुराग बहुत संकीर्ण होते हैं। अराजकता की संभावनाएँ मनुष्य के आत्म-विकसित व्यक्तित्व और आत्मनियंत्रित चरित्र से सीमित होती हैं। चरित्र की परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि वह नियमित सिद्धांत के अनुसार अपनी स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं का नियंत्रण करने की एक स्थाई मनोभौतिक प्रवृत्ति है। चरित्रवान् होना एक अर्थ में

आत्मोत्सर्ग का पाँचवा ढङ्ग है : कुछ नियमित करने वाले सिद्धांत चरित्र के घनिष्ठ और सक्रिय अंग बन जाते हैं। जो मनुष्य अपनी क्षणिक अन्तर्प्रेरणाओं के प्रवाह में सदा इधर उधर बहता नहीं रहता वह अपने कामों की दिशा निर्धारित करने और नैतिक दृष्टि से उनको सार्थक बनाने वाले सामञ्जस्य के किसी सिद्धांत को अवश्य मानता है या ढूँढ़ता है।

दूसरी ओर सामञ्जस्य के सिद्धान्त को अधिक कठोर और रूढ़ नहीं होना चाहिये। "सामञ्जस्यपूर्ण होने का अर्थ हर परिस्थिति में एक ही तरह से अनुभव करना या काम करना नहीं है; सामञ्जस्यपूर्ण होने का अर्थ किसी आन्तरिक दृष्टिक्षेत्र को स्थापित कर हर परिस्थिति में खरा उतरना है। सामञ्जस्य का अर्थ अपरिवर्तनशील होना न होकर जगत् के हर परिवर्तन पर अपना दृष्टिकोण तैयार रखना है।" मानवतावादी का आदर्श हर स्थिति में "विभिन्न अन्तर्प्रेरणाओं में संतुलन बनाए रखना है।"[1]

२. धर्म और अधर्म पर (On Vrices and Virtues)

यदि अच्छी और बुरी आदतों के लिए क्रमशः धर्म और अधर्म शब्दों का प्रयोग किया जाय तो वाद विवाद आसान हो जायगा। दुर्भाग्यवश धर्म और अधर्म शब्दों का अर्थ बदल गया है। अधर्म का अर्थ व्यभिचार करना, जुआ खेलना, शराब पीना आदि ही समझा जाता है। व्यापार में बेईमानी करना, गर्म मिज़ाज का होना, या सुस्ती को अधर्म नहीं समझा जाता। धर्म का अर्थ 'अधर्म' से बचना और सामाजिक समर्थन प्राप्त और परम्परागत मार्ग पर जीवन यापन करना है। दार्शनिक वाद विवाद में धर्म और अधर्म शब्दों का यह संकुचित अर्थ नहीं लिया जाता। धर्म या अधर्म का अर्थ व्यक्ति के चरित्र की किसी प्रकार की खूबी या ख़राबी है अर्थात् नैतिक कर्त्ता की अच्छी या बुरी कही जाने वाली आदतें हैं।

मूलभूत और नैमित्तिक धर्म (Intrinsic and Instrumental Virtues)

जिस तरह दूसरे अध्याय में नैतिक साध्यों का मूलभूत और नैमित्तिक

में वर्गीकरण किया गया था उसी तरह का वर्गीकरण नैतिक आदतों का भी हो सकता है। जहाँ तक वे अपने से वाह्य अच्छे साध्यों को प्राप्त करने की ओर जाती हैं वहाँ तक सारी प्रवृत्तियाँ नैमित्तिक ही होती हैं। किंतु यहाँ एक विशेष बात पर ध्यान देना जरूरी है। जहाँ कुछ प्रवृत्तियों का मूल्य वाह्य लाभार्थ होता है वहाँ कुछ प्रवृत्तियों का अपना मूल्य भी होता है, वे अच्छे जीवन में सहायक नहीं होती स्वयं ही अच्छा जीवन होती हैं। ऐसी प्रवृत्तियाँ कौन सी हैं? इसके बारे में लोगों में मतभेद हो सकता है।

उदाहरणार्थ अपने प्रति ईमानदार होने का जितना मूलभूत मूल्य है उतना गुणी होने का नहीं है। निस्सन्देह गुणी होने का भी कुछ मूल-भूत मूल्य अवश्य है, कुछ व्यक्तियों और समाजों में उसका मूल्य बहुत हो सकता है। हमारे बहुत से मूल्य सामाजिक तिरस्कार आदि जैसी अनेक वाह्य बातों से भी निर्धारित होते हैं। अपने प्रति सच्चा होने का यही क्या कम मूल्य है कि व्यक्ति अपने को गुणी समझने का भ्रम न रखकर आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। अपने प्रति सच्चा होना अच्छे परिणामों के कारण ही मूल्य नहीं रखता, अपने प्रति सच्चा होना सामञ्जस्य-पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति है। अपने प्रति सच्चा होना अपना ही विमर्शात्मक (reflective) बोध है और वही मनुष्य और जड़ पदार्थों या पशुओं के आचरण का मुख्य भेद है। अपनी सत्ता का संरक्षण करना ही सबसे बड़ा और आधारभूत धर्म है और चूँकि कुछ धर्मों को आधारभूत मानना ही पड़ता है अतएव अपने प्रति सच्चा होना मनुष्य के सब आधारभूत धर्मों से श्रेष्ठ है।

दूसरों के प्रति सच्चा होना एक जटिल समस्या पैदा कर देता है। यद्यपि बहुत सच्चा व्यक्ति एक चलनी की ही भाँति होता है यथापि सामा-जिक व्यवहार में कुछ सचाई की ज़रूरत तो अवश्य पड़ती है। बातचीत में सचाई होना ज़रूरी है क्योंकि उसके बिना कोई किसी का विश्वास नहीं करेगा और पारस्परिक सम्बन्ध बिल्कुल टूट जायगा।

व्यक्तिगत और सामाजिक धर्म

अपने प्रति और दूसरों के प्रति सच्चा होने के भेद से अपने धर्मों और दूसरों के लिए धर्मों का एक आवश्यक भेद उत्पन्न हो जाता है। अपने प्रति सच्चा होना तो अपना धर्म है किंतु दूसरों के प्रति सच्चा होना अपना और दूसरों के लिए दोनों धर्म हो सकता है। वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र के बीच कोई गहरी रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि व्यक्ति के विचार, मूल्य और उद्देश्य उसके समाज से अवश्य सम्बन्धित होते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिए वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं और मूल्यों में भेद करना अनुचित नहीं है। उदारता और न्याय सामाजिक हैं क्योंकि समाज के न होने पर उनका कोई अर्थ नहीं रहेगा। किंतु कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समाज से बिल्कुल अलग रहने वाले व्यक्ति के चरित्र के लिए अच्छी हैं।

कभी कभी अपने प्रति धर्मों को नैतिक समझने में सन्देह किया जाता है या उन्हें परोपकारवादी धर्मों से नीचा स्थान दिया जाता है। कभी कभी भावुकतावश धर्मों को सामाजिक ही समझा जाता है और व्यक्ति का कर्तव्य सदा दूसरों का या समाज का हित माना जाता है। कर्तव्य की इस भावना का खण्डन पहले और पाँचवें अध्याय के विश्लेषणों में किया जा चुका है। जब हम किसी दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य स्वीकार करते हैं तो हम (१) उस व्यक्ति का कुछ मूल्य मानते हैं (२) जिसको पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया गया है और (३) अपने में उसको प्राप्त करने की शक्ति समझते हैं। किसी व्यक्ति में ये तीनों बातें मानने पर ही हम उसके प्रति अपने कर्तव्य को स्वीकार करते हैं। यदि अ ब के प्रति और ब अ के प्रति अपने कर्तव्यों को स्वीकार करता है किंतु उनमें कोई भी अपने प्रति कर्तव्यों को स्वीकार नहीं करता तो अ और ब परस्पर एक दूसरे में तो मूल्य मानते हैं किंतु अपने में नहीं। वे परस्पर एक दूसरे में तो मूलभूत अच्छाई मानते हैं किंतु अपने को बाह्य दृष्टि से ही अच्छा समझते हैं। यह बात बड़ी असन्तोषजनक है।

हम दूसरों में जिस अच्छाई को उन्नत करने की चेष्टा करते हैं हमारे अन्दर ही उसका अवसान होता है और सामाजिक सेवा मृगमरीचिका के पीछे दौड़ना मात्र ही बन जाता है। सेवा को ही एकमात्र लक्ष्य मानने वाले परहितवादियों (altruists) से कांट ज्यादा बुद्धिमान था क्योंकि उसने "मानवता को, चाहे वह अपने अन्दर हो या दूसरों के, साधन न मानकर सदा साध्य मानने को" निरपेक्ष आदेश कहा था। अपने प्रति धर्म अपने को हमेशा साध्य समझने वाली विकसित प्रवृत्तियाँ हैं; वे आत्मसम्मान जनित होती हैं।

आत्मसम्मान को घमण्ड नहीं समझना चाहिए। आत्मसम्मान पदार्थ है, घमण्ड छाया मात्र है। कोई व्यक्ति अपने रहन-सहन और कामों से दूसरों का आदर पा सकता है किंतु एक सीमा के बाहर जाने पर वह नैतिक हिजड़ा भी बन सकता है। आत्मसम्मान नैमित्तिक न होकर प्रधान श्रेय है। घमण्डी आदमी अपने को बढ़ा चढ़ा कर दिखाता है और इस प्रकार बनावट में फँस कर आत्म-विकास नहीं कर सकता। आत्मसम्मान व्यक्ति की क्षमता को बड़ा महत्व देता है और इसलिए धर्मों के विकास में सहायक होता है। पकड़े जाने का भय न होने पर भी हमें नीच काम क्यों नहीं करना चाहिए? क्योंकि, उत्तर है, हम हम हैं और नीच काम करके अपनी दृष्टि में गिरना नहीं चाहते। यही सामाजिक धर्मों में भी आवश्यक है। हमें न्यायप्रिय क्यों होना चाहिए? परोपकार की भावना का होना ही न्यायप्रियता नहीं है क्योंकि उसका प्रयोग अपने कृपापात्रों के लिए हो सकता है। न्याय का आदर्श इसलिए मान्य है कि वह हम जो कुछ होना चाहते हैं या जिसकी प्रशंसा करते हैं उससे अधिक सङ्गत है। ठीक तरह से विकसित और प्रयुक्त होने पर आत्मसम्मान संचालक शक्ति और सारी धर्मगत कामों की सच्ची अनुज्ञप्ति है।

तो अपने प्रति मुख्य धर्म कौन कौन हैं? इस विषय में दार्शनिकों और लेखकों का विभिन्न मत है। किंतु उन सब में से आत्म-नियन्त्रण

विशेष है क्योंकि आत्मनियन्त्रण के बिना अन्य धर्मों का विकास नहीं किया जा सकता।

आत्म-नियन्त्रण (Self Control)

धर्मों में मुख्य न होते हुए भी आत्मनियन्त्रण धर्मगत और सुखी जीवन के लिए जरूरी है। उसके बिना चेष्टा करके अनैसर्गिक धर्मों को पाना असम्भव है। प्रत्येक धर्म अपनी विरोधी लालच पर विजय होता है। यूनानी दार्शनिकों ने निग्रह (Temperance) को प्रधान धर्म माना था और प्लेटो तो उसे अच्छे जीवन और स्थाई समाज की सर्वोत्तम तो नहीं किन्तु पहली शर्त मानता था।

आत्मनियन्त्रण की विरोधी आत्मअनुरक्ति है। आत्मअनुरक्ति की नैतिक मर्यादा बताना आसान नहीं है किंतु अत्यधिक आत्मअनुरक्ति से व्यक्तित्व क्षीण होता है। प्रयोग न किए जाने से इच्छा शक्ति और बुद्धि दुर्बल हो जाती हैं जिससे धीरे-धीरे उपभोग की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। पालसन के अनुसार "निष्क्रिय उपभोग से संवेदन-शक्ति निर्जीव हो जाती है और सुख के लिए प्रबल और उत्तेजित करने वाली अनुभूतियाँ अपेक्षित हो जाती हैं जिससे आखिरकार एक थकान और सुस्ती की अवस्था आ जाती है; अंगों की शक्ति का ह्रास हो जाता है और जीवन दूभर हो जाता है।"[1] इससे स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती है। सदा अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति में लगे रहने से व्यक्ति उनका गुलाम हो जाता है। बेलगाम होने से इच्छाएँ बहुत अत्याचारी हो सकती हैं।

इच्छाओं के अत्याचार से लोगों ने अक्सर सांसारिक दुखों को तिलाञ्जलि देकर सन्यास ले लिया है। सन्यास वह नैतिक दर्शन और जीवनयापन की विधि है जो सुख को प्रधानरूप से बुरा मानती है। कुछ लोगों को विरागी बनने में आन्तरिक सन्तोष मिलता है। कुछ लोग अपनी वासनाओं के प्रवाह में आसानी से बह जाते हैं। संसार के कुछ

---

१ फ्रीडरिख पालसन, वही, पृ० ४८५-४८६

महान् विरागी असाधारण बलवती प्राकृतिक इच्छाओं और वासनाओं के रखने वाले लोग हुए हैं।

आत्मसंयम का लाभ उठाने के लिए विरक्ति को पूरी तरह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अरस्तू का हल अच्छा है। वह कहता है कि सभी सुखों से बचना नहीं चाहिए वरन् अच्छे काम की ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वही सुखकर हो जाय। आदत पड़ जाने पर सुखकर हो जाती है और आत्मनियंत्रण की समस्या अच्छी आदतें डालने और उनको मजबूत बनाने की ही समस्या है। विलियम जेम्स का कहना है कि "सबसे बड़ी बात अपनी शारीरिक व्यवस्था को अपना मित्र बना लेना है" और वह अच्छी आदतें डालने और उनको बनाए रखने के चार गुर बताता है: (१) "अच्छे कामों को जल्दी से जल्दी अपनी आदतें बना लेना चाहिए और हानिकारक कामों की ओर प्रवृत्त होने से अपने को रोकना चाहिए"; (२) "जब तक नई आदत जड़ न पकड़ जाय तब तक उसमें कोई अपवाद नहीं करना चाहिए"; (३) "अवसर मिलते ही अपने निश्चय के अनुसार काम करना चाहिए और जिस आदत को डालना है उसके उकसाने वाले हर मनोवेग से लाभ उठाना चाहिए"; (४) "अभ्यास द्वारा चेष्टा को जीवित रखना चाहिए।"[१] मानवी मनोविज्ञान पर आधारित जेम्स का यह परामर्श बहुत महत्वपूर्ण है। वास्तविक महत्व निश्चयों का न होकर डाली गई आदतों का ही होता है। चौथे गुर में जेम्स विरक्ति सिद्धान्त की सीमित व्यावहारिकता को स्वीकार करता है: "रोज़ कुछ न कुछ अभ्यास करना चाहिए जिससे अवसर आने पर उसका सामना पूरी तैयारी के साथ किया जा सके।"

आत्मनियंत्रण के अभ्यास के लिए हमें कहाँ से प्रारम्भ करना चाहिए? इसका उत्तर टाल्सटॉय ने दिया है। जिस प्रकार अच्छे जीवन

---

१ दि प्रिंसिपिल्स आव् साइकोलॉजी, जि० १ पृ० १२२-१२७

की पहली शर्त आत्मनियंत्रण है उसी प्रकार आत्मनियंत्रण को पहली शर्त उपवास करना है :

> मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं और उनका सफलतापूर्वक सामना करने के लिए नींव की इच्छाओं को पहले लेना चाहिए क्योंकि अन्य जटिल इच्छाएँ उन्हीं के ऊपर फलती फूलती हैं। शारीरिक सौंदर्य, खेलकूद, आमोद प्रमोद, गप्पबाज़ी आदि जटिल और खूब खाना, आवारागर्दी, यौनिक प्रेम नींव की इच्छाएँ हैं। इनमें से पहले नींव की इच्छाओं से प्रारम्भ करना चाहिए। यह प्रारम्भ वस्तुओं के स्वभाव और मानवी ज्ञान की परम्परा से निर्धारित होता है।
>
> जो आदमी ज्यादा खाता है वह सुस्ती से नहीं लड़ सकता और जो आदमी आवारागर्द है वह यौनिक वासना से नहीं बच सकता। अतएव सारी नैतिक शिक्षाओं के अनुसार आत्म नियंत्रण ज्यादा खाने के विरुद्ध अर्थात् उपवास से शुरू करना चाहिए। आत्म नियंत्रण के बिना अन्य धर्म प्राप्त नहीं हो सकते; किंतु हमारे समय में अच्छे जीवन को प्राप्त करने के हर धर्म को ही नहीं भुला दिया गया है वरन् आत्मनियंत्रण तक आने की पहली बातों तक की उपेक्षा कर दी गई है। उपवास को बिल्कुल छोड़ दिया गया है और उसे एक अनावश्यक अन्धविश्वास समझा जाने लगा है।[1]

यह याद रखना चाहिए कि विरागी होते हुए भी टालस्टॉय विरक्ति के दर्शन का प्रतिपादन नहीं करता। वह सुखों को बुरा न मानकर उनके अनिवार्य परिणामों को बुरा मानता है। खाने, यौनिक प्रेम और आमोद प्रमोद आदि के मामले में विरक्ति कोई साध्य न होकर अच्छे जीवन को उन्नत करने के लिए आत्मनियंत्रण की ओर आने का पहला कदम है।

---

१ एसेज़ एण्ड लेटर्स, पृ० ७७-७८

इस परामर्श की सब लोगों को समान ज़रूरत नहीं है। अपने आदर्श साध्यों को पाने के साधनों की क्षमता पर हरेक को स्वयं अपना निर्णय करना चाहिए।

धर्म और बुद्धि (Virtue and Intelligence)

सुकरात वास्तविक धर्म में बुद्धि का बड़ा स्थान और हाथ मानता था। साहस के साथ यदि विचार न हो तो साहस मूर्खतापूर्ण हो सकता है। बच्चे किसी चीज़ से नहीं डरते किंतु हम उन्हें साहसी नहीं कह सकते। साहस में किस चीज़ से डरना चाहिए और किससे नहीं डरना चाहिए इसके ज्ञान का बड़ा हाथ है। विचारपूर्वक किया गया काम ही साहसिक कहा जा सकता है। वास्तविक साहस ज्ञान का एक रूप है। साहस में भविष्य निहित रहता है किंतु हम ज्ञान की एक ही क्रिया से वर्तमान, भूत और भविष्य को जानते हैं और इसलिए उस ज्ञान के विषयों को भी एक ही होना चाहिए। इस प्रकार साहस और अन्य धर्मों में कोई तीव्र भेद नहीं है। हर धर्म ज्ञान का ही कोई पहलू है और उस ज्ञान के बाहर निरर्थक है। सुकरात सब धर्मों (virtues) की एकता पर ज़ोर देता है। धर्मों का भेद राजनैतिक स्तर पर ही किया जाता है। जिन लोगों के पास ज्यादा बुद्धि नहीं है उन्हें अपनी इच्छाओं में ही संयम और संतुलन रखना चाहिए। ऐसा सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। अन्य धर्म ज्वलन्त रूप से दार्शनिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में ही विद्यमान हो सकते हैं।

बुद्धि और उत्तरदायित्व

यदि बुद्धि का धर्म में बड़ा आवश्यक स्थान है तो क्या मनुष्य की नैतिकता परखते समय उसकी बुद्धि की परख नहीं होती? क्या उसे काम के परिणाम के ज्ञान का उत्तरदायी मानना चाहिए? क्या अनभिज्ञता नैतिक दोष है? अनभिज्ञता को बहुत से लोग दो दशाओं में नैतिक दोष मानेंगे। जब अनभिज्ञता का कारण लापरवाही होता है जिससे चेष्टा और ध्यान पूर्वक बचा जा सकता है या मूल नैतिक सिद्धान्त से ही अनभिज्ञ होना नैतिक दोष है।

बहुधा अनभिज्ञता को एक बहाना बना लिया जाता है। अनभिज्ञता पर आपत्ति न करना निन्दनीय है। डब्ल्यू के० क्लिफोर्ड ऐसी अनभिज्ञता को पाप कहता है: "अपर्यात प्रमाण के आधार पर किसी चीज में विश्वास कर लेना हर समय, हर जगह, हर एक के लिए अनुचित है।" वह कहता है कि "ऐसे विश्वासों से बचना, जो हमारे ऊपर हावी होकर इधर-उधर भी फैल सकते हैं, हमारा कर्तव्य है।"[1] किंतु इस कथन में जरा अतिशयोक्ति है क्योंकि हर महत्वपूर्ण मामले में पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल सकता। विश्वासों को रोका जा सकता है किंतु कामों को नहीं। अधिक से अधिक पर्याप्त प्रमाण का होना एक अच्छा नियम है किंतु उसमें और बातें भी आ जाती हैं। क्लिफोर्ड उस व्यक्ति की भर्त्सना करता है जो अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर अपने जहाज को सुरक्षित समझ कर समुद्र में भेज देता है। किंतु यहाँ अपर्यात प्रमाण के अतिरिक्त उस व्यक्ति की नीति भी बहुत बुरी है जिससे अन्य लोगों के जान माल का खतरा पैदा हो जाता है। यहाँ भी शायद अरस्तू का कहना ही ठीक है कि अनभिज्ञतावश किए गए कामों के पीछे 'उद्देश्य तो नहीं रहता' किंतु उन्हें 'अनिच्छापूर्वक किया गया' नहीं कहा जा सकता और जब तक बाद में "दुख या पश्चाताप न हो" तब तक वे अनिंदनीय भी नहीं होते।"[2] जहाज के डूब जाने पर यदि उसके मालिक को बीमे द्वारा क्षतिपूर्ति से अधिक रुपया मिल जाय तो एक तटस्थ दर्शक की दृष्टि में जहाज के मालिक का काम लापरवाही से किया गया और इसलिए उद्देश्यहीन हो सकता है किंतु पूर्णतया उसकी 'इच्छा के विरुद्ध नहीं हो सकता।'

अरस्तू 'साध्य की अनभिज्ञता' अर्थात् नैतिक सिद्धान्त की अनभिज्ञता को अक्षम्य मानता है। दवा के धोखे में किसी को जहर दे देना

---

१ लेक्चर्स एण्ड एसेज, जि० २, पृ० १८४-१८६

२ नाइकोमैकियन एथिक्स, ३, १, १३

संयोगमात्र है किंतु हत्या करने के पाप से अनभिज्ञ होकर जहर दे देना अपराध है। "नैतिक सिद्धान्तों की अनभिज्ञता को क्षमा नहीं किया जा सकता, हाँ विशेष परिस्थितियों में किसी काम का क्या परिणाम होगा इसको क्षमा किया जा सकता है।"

क्या बुद्धि पर्याप्त है ?

बुद्धि सर्वोच्च धर्म (virtue) की आवश्यक शर्त है और बुद्धि धर्म की संरक्षक है इन दोनों बातों में धोखा नहीं होना चाहिये। पहली बात के अनुसार धर्म में बुद्धि निहित रहती है और दूसरी बात बुद्धि में धर्म को निहित मानती है। नीतिशास्त्र में पहली बात का बड़ा महत्व है क्योंकि नैतिकता कामों में न होकर उस काम के पीछे बौद्धिक उद्देश्य में होती है। दूसरी बात में उस नैतिक धारणा का समर्थन है जिसे बुद्धिगत कहा जा सकता है।

बुद्धि को नैतिक आचरण का संरक्षक मानने के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि बुद्धि नैतिकता से स्वाभाविकतः भिन्न है और बुद्धिमान व्यक्ति का आचरण नैतिक ही होगा क्योंकि बुद्धि नैतिकता को जन्म दे सकती है। यह प्रतिज्ञा तथ्यगत होने से व्यापक या निश्चित नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति के किसी काम के अनैतिक होने पर उसमें 'संभावना' का विशेषण लगाना पड़ेगा। दूसरे अर्थ में बुद्धि नैतिक स्वभाव की नींव हो सकती है। यदि ऐसा है तो उसकी सत्यता अनुभव-निरपेक्ष है। तब उसका अर्थ यह होगा : बुद्धिमान व्यक्ति जो काम करता है वह काम बुद्धि की अभिव्यक्ति होने के कारण नैतिक होता है। संक्षेप में बुद्धि मूलभूत श्रेय बन जाती है।

बुद्धि के सिद्धान्त को नीत्शे और वार्नर फाइट जैसे विभिन्न स्वभाव के दार्शनिकों ने माना है। नीत्शे के दर्शन में बुद्धि के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति "प्रभु-नैतिकता" (master morality) में मिलती है। अतिमानव (superman) अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण परम्परागत भाव-

नाओं से स्वच्छन्द होकर समाज पर शासन करेगा और उसका श्रेष्ठ गुण उसकी बुद्धि ही होगा। उसकी सिद्धि के लिए हज़ारों 'गुलामों' की बलि भी महत्व नहीं रखती। प्रोफेसर फाइट की व्याख्या अधिक मानवीय है। उसमें बुद्धि के अनुसरण द्वारा 'अपने को जानने' से सभी लोगों के उन्नत होने की आशा है।

संभव है कि नीत्शे की निर्दयता बुद्धि को परम हित मानने का ही तार्किक परिणाम हो। यदि नैतिकता को बुद्धि में आरोपित न किया जाय तो अधिक बुद्धिमान व्यक्ति के अधिक नैतिक होने का कोई अनुभव-निरपेक्ष प्रमाण नहीं मिल सकता। यदि उसकी प्रवृत्ति मानवतावादी है तो उसकी बुद्धि का विकास प्रोफेसर फाइट द्वारा प्रतिपादित मानवी नैतिकता की ओर ही होगा। किंतु बुद्धि का सम्पर्क युद्ध, निर्दयता और स्वार्थ से भी हो सकता है। बुद्धि और अच्छी प्रवृत्तियों में आवश्यक सम्बन्ध समझ बैठना मनोविज्ञानीय तथ्यों का अति साधारणीकरण मात्र ही है। अपेक्षा तो किसी होशियारी से किए गए भेद की है। बुद्धि प्रशंसनीय है चाहे उसे बुरे साध्यों में ही क्यों न लगाया जाय, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि बुरा बुद्धिमान व्यक्ति भी प्रशंसनीय है। बुद्धि का नैतिकता से आंगिक (organic) सम्बन्ध है किंतु वह तादात्म्य (identity) नहीं है। यद्यपि बुद्धि को नैतिकता से बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता किंतु फिर भी उनमें मात्रा का अन्तर होता है। स्पष्ट चिंतन के लिए उन्हें दो अलग अलग बातें मानना चाहिए।

इस मामले में प्लेटो का हल अधिक सन्तोषजनक है। यथार्थवादी होने के नाते वह असफल या दुखमय परिणामों से बचने के लिए बुद्धि का शिक्षा द्वारा विकास करने की आवश्यकता को समझता था। बुद्धि की भाँति प्रवृत्तियों और मनोभावों की शिक्षा भी जरूरी है। 'रिपब्लिक' के प्रारम्भिक भाग आधारभूत शिक्षा के प्रश्न से भरे पड़े हैं। उचित शिक्षा के लिए बच्चों को शैशव से ही उचित संगीत, कहानियाँ और शारीरिक सामञ्जस्य सिखाना चाहिए। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से उन पर प्रश्न

उठाए जा सकते हैं; किंतु उनकी नींव में जो सिद्धान्त है वह ठीक है। यदि मनुष्य की बुद्धि को सामाजिक और वैयक्तिक दृष्टि से अच्छे साध्यों की ओर प्रवृत्त करना है तो उसका प्रारम्भिक अवस्थाओं से ही उचित बाह्य निर्देशन करना चाहिए। बुद्धि अच्छे जीवन में आवश्यक होते हुए भी अच्छे जीवन का सारा सार नहीं है।

सामाजिक न्याय की समस्या

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए ही नहीं वरन् अपने विचारों, मूल्यों और उद्देश्यों के लिए भी अन्य लोगों और संस्थाओं पर, जिनसे वह सम्बन्धित होता है, निर्भर रहता है इसलिए वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र में कोई गहरा विच्छेद नहीं हो सकता। अन्य लोगों के प्रति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके आत्म सुधार या आत्मविकास का कोई आदर्श फलीभूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार पहले अपने उद्देश्यों को सुधारने की ओर ध्यान न देकर समाज की उन्नति की बात करना निरर्थक भावुकता मात्र है। अपने निजी जीवन और सामाजिक क्षेत्र दोनों में मूल्यों की सिद्धि करना एक ही नैतिक बात के दो पहलू हैं। फिर भी कुछ मूल्य प्रधानतः सामाजिक ही होते हैं और उनमें से न्याय अपनी तटस्थता के कारण सबसे प्रमुख है।

१. न्याय का अर्थ

पहले अध्याय में नैतिक विवेक के कामों का विश्लेषण किया गया था। उस विश्लेषण के अनुसार सच्चा नैतिक विवेक नैतिक प्रश्न के दोनों पक्षों की ओर से दी गई युक्तियों से कुछ और भी होता है। वह युक्ति देने की निपुणता न होकर प्रस्तावित वरण से पैदा होने वाली स्थिति में कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि रखना है। अपने वर्तमान अहम् का भविष्य की किसी स्थिति में प्रक्षेपण करना अपने अहम् की वास्तविक सीमाओं से बाहर जाना है; इस प्रक्षेपण द्वारा हम अपने वर्तमान अहम् का भविष्य अहम् से आदर्शात्मक तादात्म्य जोड़ते हैं और उसे वरणीय और अच्छा समझते हैं।

नैतिक अन्तर्दृष्टि को अपने भविष्य की ओर ही न लगाकर दूसरों के भविष्य की ओर भी लगाया जा सकता है। दूसरों के भविष्य के मामले में हमारी कल्पना का विषय वह अहम् नहीं होता हम जिसको पाने या वरण करने की आशा करते हैं; दूसरों के भविष्य से हमारा तादात्म्य वास्तविक न होकर एकांगी और आदर्श रूप में ही हो सकता है। फिर भी दोनों चेष्टाएँ मनोविज्ञानीय दृष्टि से समान हैं : दोनों में कल्पना द्वारा 'यहाँ' और 'अभी' से बाहर जाया जाता है। रेनोवीर ने नैतिक विवेक के सामाजिक पक्ष की निम्नलिखित व्याख्या दी है :

> समान या बराबर होने के कारण कर्त्ता अपने पारस्परिक वादों पर विश्वास करेंगे; उनका यह विभक्त तादात्म्य और एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का होना बौद्धिक दृष्टि से सदा संभव है और इससे उनमें द्विपक्षी सम्बन्ध हो जाता है जो व्यवहारिक उद्देश्यों के लिए अन्तर्परिवर्तनीय है। तदनुसार जब कोई व्यक्ति नैतिक कर्तव्य की अनुभूति करता है तो उसका कर्तव्य उसी के प्रति नहीं होता...और वह उसी की वैयक्तिक नैतिक स्थिति तक ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् उसका कर्तव्य दूसरों के प्रति भी होता है जो तब तक बना रहता है जब तक उनमें परिवर्तन नहीं हो जाता क्योंकि दूसरे व्यक्ति के बदल जाने पर ही उसके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं रहता। इस पारस्परिकता में नैतिक सम्बन्ध और स्थायित्व है। नैतिक दृष्टिकोण से दो व्यक्ति एक ही होते हैं किंतु इसमें विशेषता इतनी ही होती है कि उस एक व्यक्ति के दो पक्ष होते हैं।[1]

भावनाओं में बह जाने वाला आदमी अपनी उन्हीं भावनाओं का समर्थन कर सकता है जिनका वह अन्य लोगों में तिरस्कार करता है या वह प्रतिद्वन्दी भावनाओं और अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं से विमुख होकर

---

१ ल साइन्स दि ल मोरेल, जि० १, पृ० ४९

और उनकी परवाह न कर अपनी भावनाओं को ज्यादा मूल्य दे सकता है। कभी कभी हमें ऐसे लोग भी मिलते हैं जो दूसरों में उन भावनाओं को प्रेरित करते हैं जो उनके लिए स्वयं हानिकारक होती हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ सामाजिक नैतिकता के लिए अच्छी नहीं हैं क्योंकि वे दोनों निहित प्रतियोगी मूल्यों पर ध्यान नहीं देतीं। बौद्धिक व्यक्ति के लिए अपनी और दूसरों की भावनाओं का एक सा मूल्य होता है जब तक कि उनमें अहम् के भेद के अलावा मूल्यांकन में अन्तर डालनेवाला और कोई भेद न हो। बौद्धिक दृष्टि से व्यक्तियों का एक सा मूल्य है और उनके मूल्यों का सार्थक भेद उनकी विशेषताओं के कारण ही हो सकता है। सार्थक भेद वैशेषिक होते हैं, सर्वनामक नहीं।

न्यायप्रिय व्यक्ति तादात्म्य के आधार पर ही प्रतियोगी मूल्यों की परख और निश्चय करता है। न्याय का चाहे कुछ भी अर्थ न हो लेकिन उसमें विषय सापेक्षता अवश्य रहती है। न्याय निस्वार्थता से और कुछ भी है क्योंकि निस्वार्थ व्यक्ति भावुक और अबौद्धिक भी हो सकता है। न्याय की कृतज्ञता, सच्चाई और उदारता इन तीन कम पूर्ण विषयसापेक्ष सामाजिक धर्मों से तुलना करके उसके अर्थ को और भी स्पष्ट किया जा सकता है।

तीन अपूर्ण धर्म (virtues)

कुछ दार्शनिक वितरणशील न्याय (distributive Justice) के आदि की व्याख्या कृतज्ञता की भावना में पाते हैं। न्याय के विकास की संभावना निम्नलिखित सिद्धान्तों की क्रमिक स्वीकृति में मानी गई हैं :[1] (१) "यदि कोई हमारे साथ अच्छा काम करे तो हमें उसका बदला चुकाना चाहिये" (यह साधारण कृतज्ञता का सिद्धांत है); (२) "हरेक व्यक्ति को अपने प्रति किये गये अच्छे काम का अच्छा बदला देना चाहिये (इसे सहानुभूति पर आधारित कृतज्ञता कहा जा सकता है); (३) "किसी के

१ हेनरी सिजविक द्वारा, (मेथड आव् एथिक्स ३, ५)

अच्छे काम का किसी न किसी तरह अच्छा बदला चुकाना ही चाहिये" (यह कृतज्ञता का व्यापक रूप है); (४) "हरेक को उसकी योग्यता के अनुसार मिलना चाहिये" (यह न्याय का अत्यधिक स्वीकृत रूप हैं)। इन बातों से न्याय के आदि पर चाहे कैसा ही प्रकाश क्यों न पड़ता हो किंतु इनसे न्याय के विकसित रूप और कृतज्ञता के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

विलियम गॉडविन ने न्याय और कृतज्ञता के भेद को और भी स्पष्ट किया है। आग लगे हुए मकान में से हमारा कर्तव्य देश सेवक को बचाना है या अपनी माँ को ? यदि ऐसे अवसर पर विवेक और वरण का समय मिल सके तो कृतज्ञता और प्रेम की माँग तो अपनी माँ को बचाने की ही होगी। किंतु गॉडविन के अनुसार न्याय की माँग देश सेवक को बचाना है क्योंकि उससे देश का अधिक हित हो सकने की संभावना है। क्या अपने हितैषी के प्रति कृतज्ञ होना न्याय-संगत नही है ? गॉडविन का उत्तर है, नहीं है। न्याय की माँग बौद्धिक वरण करने की है; और बौद्धिक दृष्टि से हितैषी की योग्यता समान है चाहे उसने हमारा हित किया हो या किसी दूसरे का। "मैं और कोई दूसरा आदमी अपने अपने हितैषी को पसन्द करने में उचित नहीं हो सकते क्योंकि कोई आदमी एक समय ही अपने पड़ोसी से अच्छा या बुरा नहीं हो सकता। मेरा नहीं वरन् एक मनुष्य का हित करने के नाते मेरा हितैषी प्रशंसा का पात्र है।"[१] इसी प्रकार गॉडविन कृतज्ञता का तिरस्कार भी करता है क्योंकि "कृतज्ञता एक ऐसी भावना है जिससे हम किसी मनुष्य की उपादेयता या मूल्य के अतिरिक्त भी उसको अन्य कारणों से पसन्द कर सकते हैं। जो बात हमारे लिए अच्छी है वह दूसरों के लिए अच्छी नहीं हो सकती और इसलिए वह अपने आप में अच्छी नहीं हो सकती।"

---

१ विलियम गॉडविन, ऐन एन्क्वायरी कंसर्निंग पॉलिटिकल जस्टिस, पु० २, परि० २

यह दृष्टिकोण स्टोइकों के दृष्टिकोण से मिलता है जो अपने समीपवर्ती लोगों के प्रति किसी विशेष कर्तव्य को नहीं मानते थे। न्याय की परिभाषा कैसे ही क्यों न दी जाय पर अधिकांश लोग उपर्युक्त स्थिति में कृतज्ञता को प्रधानता देंगे। बेन्थम ने न्याय को इस सामान्य दृष्टिकोण से समन्वित करने की चेष्टा की है। चूँकि हम अपरिचितों की अपेक्षा अपने समीपवर्त्ती लोगों की आवश्यकताओं को अधिक समझ सकते हैं इसलिए हमें उनका ध्यान पहले रखना चाहिए चाहे वे उसके पात्र हों या न हों, क्योंकि हम इसी तरह जगत में सुख की वृद्धि कर सकते हैं। बेन्थम की युक्ति से यही पता चलता है कि न्याय की पूर्त्ति उससे कम कठोर भावनाओं से की जानी चाहिए जिनका परिणाम तत्कालिक होता है। किंतु फिर भी अनेक स्थितियों में न्याय और कृतज्ञता का समन्वय करना कठिन है और उनमें से गॉडविन का उदाहरण भी एक ऐसी ही स्थिति है।

भक्ति (loyalty) कृतज्ञता से अधिक अवैयक्तिक है इसलिए न्याय को उसके अन्तर्गत करने की माँग की जाती है। भक्ति में प्रतियोगी बातें न होने से उसकी बौद्धिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती इसलिए उसे न्याय की अपेक्षा आसानी से समझा जा सकता है और उसकी प्रशंसा की जा सकती है। दूसरे एक सीमित क्षेत्र में भक्ति एक प्रकार के न्याय का आधार हो सकती है। डाकुओं के गिरोह में भी भक्ति होती है और इसलिए उस गिरोह में न्याय को कठोरता से लागू किया जा सकता है। इसी प्रकार देशभक्ति भी एक श्रेष्ठ धर्म है। नैतिकता का पूर्ण अभाव होते हुए भी देशभक्त बना जा सकता है। किंतु फिर भी भक्ति के नैतिक महत्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। रॉयस ने अपनी पुस्तक "फिलॉसफी आव् लॉयल्टी" में यह सिद्ध किया है कि सामाजिक आदर्शों के प्रति अधिक से अधिक भक्ति होने पर ही न्याय को सिद्धि हो सकती है। रॉयस के अनुसार न्याय सारी मानव जाति के प्रति भक्ति रखना है।

न्याय और उदारता में भेद को देखना चाहिए। उदार होना मनुष्य की एक मूल्यवान प्रवृत्ति है। उदारता के बिना न्याय या तो निरर्थक या

संकुचित ही रह जाता है। न्याय और उदारता में कोई असंगति नहीं है। हम कुछ लोगों को उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए उचित भाग दे सकते हैं किंतु कुछ लोगों को उसके अतिरिक्त अपना वैयक्तिक प्रेम और बढ़ावा भी दे सकते हैं। भावुकतावश उदारता को न्याय का पूरक न मानकर उसे न्याय ही समझ बैठना खतरे से ख़ाली नहीं है। उदारता को न्याय समझने से आदमी स्वार्थवश होकर भी उदार बन सकता है।

उदारता, भक्ति, कृतज्ञता और प्रेम से अलग न्याय क्या है? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि न्यायप्रिय व्यक्ति "तटस्थ होता है और वह जिन-जिन अधिकारों को सही मानता है उन्हें सन्तुष्ट करने की समान चेष्टा करता है और अपने व्यक्तिगत पक्षपातों से प्रभावित नहीं होता।"[1] न्याय पर आधारित समाज वह है जिसमें किसी विषयसापेक्ष सिद्धान्त के आधार पर सबको हिस्सा मिलता है और उनके अधिकारों को सन्तुष्ट किया जाता है। यह परिभाषा बहुत विशद् है और इसमें विषयसापेक्ष सिद्धान्त के बारे में मतभेद उठ सकता है। न्याय की अधिक उपयुक्त परिभाषा के लिए हमें उपयोगितावाद पर एक दूसरी दृष्टि से प्रकाश डालना पड़ेगा।

२. उपयोगितावादी मत

उपयोगितावादियों के सामाजिक नीतिशास्त्र का विषयसापेक्ष सिद्धान्त "अधिक से अधिक लोगों का अत्यधिक सुख" है। इस सिद्धान्त की तार्किक कठिनाइयों तथा अन्य बातों पर तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में उपयोगितावाद के सामाजिक पक्ष पर विचार किया जायगा।

मानवतावादी सिद्धान्त

मिल का कहना है कि "ईसा के सुनहले नियम में उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का अंकुर निहित है। दूसरों के साथ वही करना जो हम अपने

---

1 सिजविक, वही पृ० २६८

साथ करवाना चाहते हैं, अपने पड़ोसी से अपनी ही भाँति प्रेम करना, इसमें उपयोगितावादी नैतिकता का आदर्श पूर्णतः विद्यमान है।" मिल का यह कथन बहुत बड़ी सीमा तक झूठा है। ईसा सुखवादी नहीं थे और उनका उद्देश्य भी 'उपयोगिता' नहीं था। ईसा के लिए नैतिकता उपयोगितावादियों की भाँति इरादों और परिणामों में न होकर हृदय की शुद्धता में होती थी। हाँ, उपयोगितावाद का मानवतावादी पहलू ईसा की शिक्षाओं से ऊपरी समानता रखता है।

जेरमी बेन्थम (१७४८-१८३२) विधान का विद्यार्थी और शासन प्रणाली का सुधारक था। आवश्यक वैधानिक सुधारों की नींव के लिए ही उसने अपनी नैतिक धारणा को प्रतिपादित किया था। औद्योगिक क्रांति के आने से तत्कालिक मजदूरों की भयानक दुर्दशा हो रही थी और तत्कालीन विधान को सुधारने के लिए किसी व्यापक सिद्धान्त की आवश्यकता थी। कोई सिद्धान्त व्यापक तभी हो सकता है जब वह सब लोगों पर लागू हो और बेन्थम ने ऐसे सिद्धान्त को सुखवाद में ही पाया। सिद्धान्त का महत्व तभी है जब उसे विषयसापेक्ष ढंग से निर्धारित किया जा सके और बेन्थम ने यह विषयसापेक्षता "अत्यधिक लोगों के अत्यधिक सुख" में पाई।

किंतु राजनैतिक अधिकार रखने वाले लोग "अत्यधिक लोगों के अत्यधिक सुख" के आदर्श से संचालित नहीं होते थे :

> शासन की हर संस्था और कानूनों का उद्देश्य प्रजा का अत्यधिक सुख न होकर शासन करने वालों का अत्यधिक सुख होता है। शासन सार्वजानिक अभिरुचि का ख्याल न रख कुछ लोगों की अभिरुचियों का ही ख्याल रखता है। उन कुछ लोगों का उद्देश्य जबर्दस्ती दूसरों के अधिकारों को छीनना या कुचलना ही होता है।[1]

[1] बेन्थम, दि थिअरी आव् लेजिस्लेशन (हार्कोर्ट ब्रेस)

शासन की यह व्यापक बुराई कैसे ठीक की जा सकती है? अनेक अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और विधान विशारदों ने शासन की बुराई ठीक करने की दिशा में कुछ न कर उनको न्यायोचित ही बताया है। जिस व्यक्ति का काम ही किसी व्यवस्था का पक्ष लेना है उससे विश्वसनीय सिद्धान्तों की आशा नहीं की जा सकती। किसी परम्परागत विधान का पक्ष लेना आसान बात है। बेन्थम वैधानिक परम्परा में "प्राकृतिक प्रणाली" द्वारा सुधार करना चाहता था। प्राकृतिक प्रणाली की दो विशेषताएँ होनी चाहिएँ: एक तो उसे मानवी स्वभाव के सामान्य नियमों पर आधारित होना चाहिए और दूसरे उसे कल्पित बातों पर आधारित सिद्धान्तों से मुक्त होना चाहिए।

मानवी स्वभाव के सामान्य नियमों को बेन्थम सुखवादी मनोविज्ञान के आत्म-रक्षण सिद्धान्त में पाता है जिस पर तीसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। वह मानवी आचरण के सारे पहलुओं, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय आदि के सारे मापदंडों को इसी कसौटी पर कसता था और उसका विश्वास था कि वह कम से कम राजनीति और विधान पर लागू होने वाली नैतिकता की धारणा को कल्पनाओं के उस ग्रहण से मुक्त कर लेगा जो उनको सदा से ग्रसित किए थीं।

कल्पनाओं पर आक्रमण (The Attack on Fictions)

बेन्थम कानून, दर्शन, धर्म और चिंतन के अन्य क्षेत्रों में बहुत सी 'कल्पित' बातों की सत्ता को मानता था। गति, ध्रुवता, कर्तव्य, अधिकार, अच्छाई, ईमानदारी, सौंदर्य और मन की शक्तियाँ आदि ये सब 'कल्पित' बातें ही हैं। ये सारे शब्द पाँचों इन्द्रियों से ग्रहण हो सकने वाली किसी चीज़ को नहीं बताते। भाषा के नियमों से बँधकर हम उन्हें संज्ञा की भाँति समझने लगते हैं जबकि वे किसी चीज़ की संज्ञाएँ नहीं होते। विधान और राजनीति में इन शब्दों का प्रचुर प्रयोग होता है, अतएव बेंथम ने इन शब्दों का अर्थ समझ सकने के लिए पहले एक तार्किक प्रणाली का आविष्कार किया। उस प्रणाली के अनुसार किसी प्रतिज्ञा

(proposition) को ऐसा होना चाहिए जिसका विषय कोई कल्पित बात न हो

कर्तव्य और अधिकार (Obligations and Rights)

नैतिक क्षेत्र में सबसे कल्पित बात 'कर्तव्य' है। 'कर्तव्य' शब्द जिस वास्तविकता की ओर संकेत करता है उसे दुख और सुख की अनुभूति में ढूँढ़ना चाहिए। "किसी काम को एक निश्चित ढंग से न करने पर यदि कर्त्ता दुख का अनुभव करे तो उस काम को करना उस व्यक्ति का कर्तव्य है।" हर कर्तव्य के पीछे सुखवादी अनुज्ञप्ति रहती है अर्थात् उसको न करने से दुख होता है। वैधानिक और नैतिक कर्तव्यों में केवल अनुज्ञप्ति (sanction) का ही अन्तर होता है। वैधानिक कर्तव्य वह है जिसमें शारीरिक, राजनैतिक या आर्थिक दुख सहना पड़ता है और मानसिक पीड़ा होना या अपनी और दूसरों की दृष्टि में गिर जाना नैतिक कर्तव्य के चिन्ह हैं।

'कर्तव्य' की भाँति 'अधिकारों' की धारणा भी कल्पना मात्र ही है। जो अनुज्ञप्ति एक व्यक्ति में दूसरे के प्रति कर्तव्य स्थापित करती है वही उस दूसरे व्यक्ति में अधिकारों को स्थापित करती है। अधिकार क्या है? मनुष्यों के अधिकार पाने, छिन जाने या छोड़ देने की बात कही जाती है मानो अधिकार मुट्ठी में ले सकने वाली कोई चीज़ हों। यह अलंकारिक भाषा है और अधिकार शब्द का तब तक कोई निश्चित अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसके साथ 'राजनीतिक' विशेषण को न लगाया जाय। राजनीतिक अधिकार रखने का अर्थ "किसी यथातथ बात को या शासक-वर्ग की उन प्रवृत्तियों को स्वीकार करना है व्यक्ति को जिनका लाभ उठाने का अधिकार है।" किंतु "प्राकृतिक अधिकारों" में ऐसी कोई यथातथ बात नहीं होती। "प्राकृतिक अधिकार से किसी व्यक्ति की दशा सुधर नहीं सकती चाहे उसको वह अधिकार प्राप्त हो या न हो।" जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक भूमि के टुकड़े पर प्राकृतिक अधिकार है तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि "हमारी राय में अमुक व्यक्ति का

भूमि पर राजनैतिक अधिकार होना चाहिए और इसके लिए उसे संरक्षण मिलना चाहिए"; दूसरे शब्दों में हम यह कहते हैं कि "अमुक व्यक्ति का भूमि पर अधिकार होना हमारे लिए सुखकर है और न होना दुखकर है।"

आलोचना

तीसरे अध्याय में यह दिखाया जा चुका है कि प्रतियोगी सुखों की संभावना में प्रकार भेद होने पर 'अत्यधिक सुख' की धारणा निरर्थक हो जाती है। हो सकता हो कि बेन्थम की धारणा का परिगणन कुछ स्थितियों में ठीक हो सके तो भी हमें उसमें न्याय की कसौटी नहीं मिलती। उपयोगितावादी दर्शन की इस असफलता को चार्ल्स लैम्ब द्वारा प्रस्तुत समस्या पर लागू करके देखा जा सकता है। "यदि सुअर को हलाल करके मारने से गोश्त में ज्यादा स्वाद मिलता हो तो क्या मनुष्य का सुअर को बुरी तरह से हलाल करना न्यायसंगत है?" उपयोगितावादी का जवाब यह होगा कि हलाल न करने की अपेक्षा करने से यदि हमें कुल सुख ज्यादा मिलता है तो हमारा सुअर को हलाल करना न्यायसंगत है। इस तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि बारह आदमी किसी एक व्यक्ति को मारने लगें तो पिटने वाले का भयानक से भयानक दुख भी उन बारहों के सुख से कम रहेगा और इसलिए उन बारहों का पीटना न्यायसंगत होगा। निस्सन्देह बेंथम मानवता रखने के कारण अपने सिद्धान्त को इस तरह लागू करना स्वीकार नहीं करता। शायद बेंथम का उत्तर यह होता कि इस तरह की क्रूरता का क्षणिक सुख चाहे ज्यादा ही हो किंतु भविष्य में वह दुखदाई ही होगी। किंतु फिर भी इस प्रश्न का उत्तर रह जाता है कि यदि क्रूरता से सुखवादी परिगणन विधि की शर्त पूरी होती हो तो क्या क्रूरता करना न्यायसंगत है?

हम दूसरे उदाहरण भी ले सकते हैं। आज की सामाजिक व्यवस्था के समर्थक समाज में पाशविक अन्याय होते हुए भी अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए 'अत्यधिक सुख' के सिद्धान्त की दुहाई देते हुए कहते हैं कि

न्यायसंगत कौन है। न्याययुक्त दावे को सामाजिक नीतिशास्त्र की भाषा में 'अधिकार' कहा जाता है। सामाजिक नीतिशास्त्र की यह एक मान्यता है कि एक व्यक्ति के अधिकार दूसरों के कर्तव्यों की अपेक्षा रखते हैं। अधिकार और कर्तव्यों के अर्थ से यह मान्यता स्वयंसिद्ध है। यदि किसी व्यक्ति को जीने का अधिकार है तो दूसरे व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह उसे न मारे। दूसरों के अधिकार गर्भित इस प्रकार के कर्तव्यों को सापेक्ष कर्तव्य कहा जा सकता है। मनुष्य के अपने प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं; वे सापेक्ष कर्तव्य नहीं होते क्योंकि उनमें दूसरों के अधिकार निहित नहीं होते। (१) अ के अधिकारों का अर्थ यह है कि अ के प्रति अन्य लोगों के कुछ कर्तव्य भी हैं और (२) अ के कर्तव्यों का अर्थ यह कि अन्य लोगों के कुछ अधिकार भी हैं। रेनोवीर ने इसको यों कहा है :

> दो मनुष्यों के किसी वर्ग में सापेक्ष कर्तव्यों का अर्थ बदल जाता है और उन्हें अधिकार और कर्तव्य कहा जाता है और उन लोगों में अधिकार और कर्तव्यों का एक पारस्परिक सम्बन्ध होता है। दोनों व्यक्ति इस तरह नैतिक रूप से सम्पर्क में आने पर एक वादा सा कर लेते हैं चाहे वह जान बूझकर किया गया हो या स्वभाववश। इस वादे के कारण ही हर व्यक्ति कुछ अधिकार रखता है और इसी से वह दूसरों के प्रति कुछ कर्तव्य भी रखता है। जो एक का अधिकार है वही दूसरे का कर्तव्य है और जो एक का कर्तव्य है वही दूसरे का अधिकार है। न्याय इन्हीं अधिकार और कर्तव्यों से निर्मित है। हम कर्तव्यों को पूरा करना और अधिकारों की माँग को न्यायोचित कहते हैं और न्याय इन्हीं दो परस्पर सम्बन्धित पहलुओं से निर्मित है।[1]

अधिकार और कर्तव्यों के इस पारस्परिक सम्बन्ध पर तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात यह है कि अधिकार और कर्तव्य अन्योन्याश्रित

---

[1] रेनोवीर, वही, जि० १, पृ० ९९

सुख को समानता से वितरित करने पर समाज के कुल सुख की मात्रा घट जायगी। यह विवाद ग्रस्त विषय है किंतु यहाँ भी बेंथम के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। यदि सुख को समानता से वितरित करने पर समाज के कुल सुख की मात्रा घट जाना सत्य हो तो हमें अत्यधिक समानता और अत्यधिक योग इन दोनों में से किसका वरण करना चाहिए ? बेंथम ने इस प्रश्न का कभी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। "गणना करते समय हरेक व्यक्ति को एक समझना चाहिए, एक से अधिक नहीं"; बेंथम के इस कथन को 'अत्यधिक सुख' का विशेषण और समानता के सिद्धान्त की मान्यता समझा जाता है। किंतु इस कथन से बेंथम का तात्पर्य यह था कि सुखवादी परिगणन विधि का प्रयोग करते समय व्यक्ति के सुख की जाँच में प्रतिष्ठा, बड़प्पन, ओहदा आदि को स्थान नहीं मिलना चाहिए। व्यवहार में बेंथम समानता, विशेषकर आर्थिक समानता लाने को बहुत व्यग्र था; समान वितरण अत्यधिक सुख को लाने का ही एक साधन है इसमें वह अपने उद्देश्य की सैद्धान्तिक न्यायमुक्तता पाता था।

३. अधिकारों का अर्थ

बेंथम के सिद्धान्त में अधिकारों की उचित धारणा का अभाव है। अधिकारों की ग़लत और पक्षपातपूर्ण धारणाओं को नष्ट करने के जोश में वह अधिकारों की धारणा के औचित्य को ही ख़त्म कर देता है। व्यक्ति के अधिकारों को माने बिना हम उपयोगितावाद के ऊल जलूल उपयोजनों से छुटकारा नहीं पा सकते। किसी की हत्या करने में चाहे कितना ही और कैसा ही सुख क्यों न मिले किंतु हत्या करना न्यायसंगत नहीं है क्योंकि इससे हत्या किए गए व्यक्ति के अधिकारों की अवहेलना होती है। सामाजिक न्याय की अविकल धारणा बनाने के लिए हमें अधिकारों और उनके साथ-साथ कर्तव्यों के अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

अधिकार और कर्तव्य

जब लोगों के विरोधी दावों पर बौद्धिक विचार किया जाता है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि किसी एक परिस्थिति में उनमें से सबसे अधिक

तभी हो सकते हैं जब उनका मापदंड एक ही हो। स्टाक मार्केट में अ को ब से रुपया ले सकने का वैधानिक अधिकार हो सकता है किंतु अ के रुपया ले लेने के बाद ब को रुपया अ के पास ही रहने देने का नैतिक कर्तव्य अनुभव नहीं भी हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि पारस्परिक सम्बन्ध रखते हुए भी अधिकार और कर्तव्य समान नहीं हो सकते। यदि किसी वर्ग के सदस्य का अधिकार ईमानदारी से जीविका कमाना है तो उसके प्रति उस वर्ग के अन्य लोगों के इतने कर्तव्य हो जाते हैं जिसके लिए अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान अपेक्षित है। यह कहा जा सकता है कि उस वर्ग के किसी आदमी ने किसी को नौकरी से न हटाकर अपने कर्तव्यों का पालन किया किंतु अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जो व्यक्ति अपने व्यापार को बढ़ाता है उसका तत्कालिक प्रभाव तो बहुत से लोगों को नौकरी मिल जाना होता है किंतु आगे चलकर उससे प्रतियोगिता बढ़ जाने और बाजार में अनावश्यक वस्तुओं के आने से उत्पादन में कमी हो जाने से बेकारी और दुख बहुत बढ़ता है।

अधिकारों और कर्तव्यों के मूलभूत सम्बन्ध की भाँति दो और बातों में भी वैसा ही सम्बन्ध है, किंतु वह मूलभूत नहीं है क्योंकि उनको बिना बाध के अस्वीकार किया जा सकता है। अतएव दोनों का फर्क समझ लेना चाहिए। अ के अधिकारों में उसके कर्तव्य निहित होते हैं और अ के कर्तव्यों में उसके अधिकार निहित होते हैं : इससे इनकार किया जा सकता है क्योंकि यहाँ पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों का तार्किक सम्बन्ध नहीं है। निरपेक्ष राजसत्ता की किसी धारणा में राजा के कुछ ऐसे अधिकारों को माना जा सकता है जिनसे संवादिता रखने वाले कर्तव्य न हों और उसकी प्रजा के ऐसे कर्तव्य हो सकते हैं जिनसे संवादिता रखने वाले अधिकार न हों। इस मत के कुछ समर्थक आज भी मिल जायँगे। ऐसे मत की तार्किक संभावना है और उसको केवल तार्किक आधार पर ही अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कानूनी और नैतिक अधिकार

अधिकारों के अर्थ की परीक्षा करते समय वैधानिक अधिकारों पर विचार करना चाहिए क्योंकि वे अधिक निश्चित होते हैं। हॉलैंड ने अपनी पुस्तक 'जूरिस्प्रूडेन्स' में वैधानिक अधिकार की व्याख्या यों की है : "वैधानिक अधिकार राज्य की स्वीकृति और सहायता से एक व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों के कामों का नियंत्रण करने की शक्ति है।" रिशी ने इसी परिभाषा के आधार पर नैतिक अधिकार की परिभाषा यों की है : "नैतिक अधिकार सार्वजनिक सम्मति की स्वीकृति और सहायता या कम से कम उसके विरोध के बिना एक व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों के कामों का नियंत्रण करने की क्षमता है।"[1] अधिक संक्षेप और कम निश्चित रूप से रिशी ने वैधानिक अधिकार को "एक व्यक्ति का अन्य लोगों के ऊपर राज्य से मान्य हक़" और नैतिक अधिकार को "एक व्यक्ति का अन्य लोगों के ऊपर राज्य की मान्यता से अलग समाज द्वारा मान्य हक" कहा है। इन दोनों को काम चलाऊ परिभाषाओं की तरह लिया जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि नैतिक अधिकारों की अपेक्षा वैधानिक अधिकारों का अधिक निश्चित निर्धारण हो सकता है। हर समाज के वैधानिक अधिकार लिखित होते हैं और उनकी व्याख्या पूर्वमान्य और परम्परागत आधार पर की जाती है। किसी सजातीय (homogeneous) समाज में नैतिक अधिकारों को भी यही मान्यता मिल सकती है। धार्मिक सूत्र में आबद्ध क्या पुराने और क्या नए और विकसित समाजों में वैधानिक और नैतिक अधिकारों में एकता होती है। दूसरी ओर रिशी का कहना है कि "विजातीय समाज में जहाँ लोगों के धार्मिक विश्वास, बौद्धिक विकास के स्तर विभिन्न होते हैं वहाँ नैतिक कर्तव्यों का निश्चय करना टेढ़ी खीर हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है।" हड़ताल

---

१ डेविड जी० रिशी, नेचुरल राइट्स। यह और इसके बाद के उद्धरण परि० ५, पृ० ७५-८० से दिए गए हैं।

करनेवालों का क्या अपने स्वामी को भयभीत करने का नैतिक अधिकार है ? अनुदारवादी उनके इस अधिकार को नहीं मानते किंतु साम्यवादी मानते हैं क्योंकि प्रतियोगितामय समाज में 'प्रत्यक्ष काम' से दबाव डालकर ही अपनी दशा सुधरवाई जा सकती है। स्त्री और पुरुष को क्या अविवाहित सम्बन्ध रख सकने का नैतिक अधिकार है ? गरीबी और बेरोजगारी से सताए व्यक्ति को अपनी जीविका चलाने के लिए क्या चोरी करने का अधिकार है ? इन प्रश्नों पर कभी एक मत नही हो सकता। कुछ वर्ग विशेष नैतिक अधिकार देते हैं और कुछ नहीं देते और सार्वजनिक सम्मति दिन प्रति दिन बदलती ही रहती है।

'प्राकृतिक अधिकारों' का सिद्धान्त

नैतिक अधिकारों के अनिश्चित और अस्पष्ट होने से कुछ नैतिक विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारो को माना है क्योंकि मनुष्य के स्वभाव पर आधारित होने से उनका ठोस प्रदर्शन किया जा सकता है। किंतु इससे समस्या का समाधान न होकर वह नैतिक क्षेत्र से हटकर तत्वसमीक्षा के क्षेत्र में चली जाती है। मनुष्य का मूल स्वभाव क्या है ? क्या स्वतंत्र पैदा होने वाला व्यक्ति गुलाम से मूलतः भिन्न होता है ? क्योंकि तभी गुलाम की अपेक्षा उसके प्राकृतिक अधिकार हो सकते हैं ? या यह स्वयंसिद्ध है कि सब मनुष्य समान होते हैं और उनके प्राकृतिक अधिकार भी समान होते हैं? 'मूलतः' और 'स्वाभाविक' अस्पष्ट शब्द हैं और उनके ये दोनों अर्थ होते हैं (१) मौलिक और बाद में सिद्ध की गई विशेषताएँ और (२) सामान्य विशेषताएँ जिनमें "सामान्यतः, यद्यपि अनिवार्यतः नहीं, घटित होने का और वस्तुओं के गुण या योग्यता का निर्णय करने के मापदंड इन दोनों का भाव विद्यमान रहता है।" मानवशास्त्र के प्रमाण पर दासता पहले अर्थ में 'स्वाभाविक' नहीं है यद्यपि उसी अर्थ में मानवी समानता भी 'स्वाभाविक' नहीं है। पहले और दूसरे अर्थ में भ्रान्ति होने पर ही "प्राकृतिक अधिकारों" की दुहाई दी जाती है।

परिणामस्वरूप रिशी प्राकृतिक अधिकारों की परिभाषा के आधार पर अपनी पीछे दी हुई वैधानिक और नैतिक अधिकारों की परिभाषा में संशोधन करता है। उसकी परिभाषा के अनुसार प्राकृतिक अधिकार "वे अधिकार हैं जो सुधारक द्वारा प्रशंसित समाज की सार्वजनिक सम्मति में मान्य होंगे और यदि उस समाज का कोई विधान हो तो वह उन अधिकारों का समर्थन या कम से कम उनमें हस्तक्षेप नहीं करेगा; प्राकृतिक अधिकार सुधारक के आदर्श समाज द्वारा अनुज्ञत हैं, चाहे वह समाज कैसा ही क्यों न हो।" किंतु फिर भी, रिशी का कथन है, ऐसे सारे अधिकार प्राकृतिक अधिकार नहीं होते, उनमें से कुछ मूलभूत अधिकार ही प्राकृतिक हो सकते हैं जिनसे अन्य अधिकारों का निगमन किया जा सकता है। मुकदमा चलाना या मुकदमा चलने पर अपने वकील द्वारा पैरवी करने का अधिकार प्राकृतिक अधिकार में नहीं गिना जाता। मुकदमा तो स्वतंत्रता और संरक्षण के मूलभूत अधिकारों को पाने का साधन मात्र ही है।

मनुष्यों के मुख्य प्राकृतिक अधिकारों का वर्णन विभिन्न तरह से किया गया है। संयुक्त राज्य की स्वतंत्रता की घोषणा में "मनुष्य की समानता और उनके जीवन, स्वतंत्रता और सुखों की खोज के अधिकारों को स्वयंसिद्ध माना गया है।" फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् द्वारा १७८९ में "मनुष्य और नागरिकता के अधिकारों की घोषणा" में "स्वतंत्रता, सम्पत्ति, संरक्षण और शोषण के विरोध को मनुष्यों का प्राकृतिक अधिकार माना गया है।" जून २४, १७९३ की घोषणा में इनके साथ समानता को भी प्राकृतिक अधिकार माना गया। इन घोषित अधिकारों में से हमें कुछ आवश्यक अधिकारों की परीक्षा करनी चाहिए।

(१) ज़िन्दा रहने का अधिकार—स्वतंत्रता की घोषणा में इसे मूलभूत मानवी अधिकार माना गया है। किंतु इस अधिकार की कुछ आवश्यक विशेषताएँ भी ध्यान देने योग्य हैं। इस बात को हरेक मानेगा कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें मनुष्य जिन्दा रहने के अधिकार से वंचित हो जाता है। सैद्धान्तिक रूप से चाहे प्राणदंड का विरोध किया

जाय किंतु कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ दूसरों के प्राण और अधिकार बचाने के लिए प्राणदंड आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थितियों में जीवित रहने के अधिकार को यदि निरपेक्ष अर्थ में लिया जाय तो वह विरोधाभास मात्र हो जायगा। जीवित रहने के अधिकार की सुरक्षा के लिए यदि कोई व्यक्ति अपने ऊपर हमला करने वाले को मार डाले तो इस स्थिति में जीवित रहने के अधिकार का विरोध है क्योंकि हमलावर को भी तो जीवित रहने का अधिकार है। युद्ध या जहाज डूबने के समय एक व्यक्ति का अपनी जान खतरे में डालकर दूसरों की जान बचाना कर्तव्य हो जाता है। सशस्त्र ठग से सामना होने पर यदि कोई व्यक्ति भागकर अपने जीवन अधिकार की रक्षा करे तो वही अधिकार हम पुलिस के दरोग़ा को शायद नहीं देंगे।

(२) स्वतंत्रता का अधिकार राजनैतिक वक्तव्यों और विभिन्न पुस्तकों और लेखों में रोज़ उद्धृत किया जाता है। किंतु जीवित रहने के अधिकार के समान ही स्वतंत्रता का अधिकार भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। स्वतंत्रता का अधिकार बहुत अस्पष्ट है। जीवन का ऐसा अर्थ है जिसके बारे में दो मत नहीं हो सकते किंतु स्वतत्रता सापेक्षिक शब्द है। स्वतंत्रता किस चीज़ से और किसलिए? मतदान की राजनैतिक स्वतंत्रता सभी तरह के वास्तविक नियंत्रणों के विरुद्ध नहीं पड़ती क्योंकि प्रजातंत्र शासन में अप्रिय कानूनों का विधानकरण संभव है। यह कहना कि किसी व्यक्ति को विशेष शर्तों पर नौकरी करने या न करने की स्वतंत्रता है एक तीखा व्यंग्य है। 'अनुबन्ध की स्वतंत्रता' (freedom of contract) का अर्थ यह है कि मनुष्य या तो उस तनख्वाह पर काम करे जिससे वह और उसका परिवार धीरे धीरे करके भूखों मर जाय या फिर वह उस तनख्वाह पर काम न कर जल्दी ही भूखों मर जाय।

(३) सम्पत्ति का अधिकार—फ्रांस की घोषणाओं में सम्पत्ति को एक मूलभूत अधिकार माना गया है; वर्जीनिया बिल में सम्पत्ति की जगह सम्पत्ति प्राप्त करने के साधनों को मूलभूत अधिकार माना गया है। इस

अधिकार के विभिन्न रूपों में यह स्वीकार किया गया है कि जीवन और स्वतंत्रता को संभव बनाने वाली चीजों को रखने के अधिकार के बिना जीवित रहने और स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं हो सकता। अतएव क्रोपाटकिन की भाँति कुछ सामाजिक विचारकों का यह कहना है कि समाज के हर व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कम से कम आवश्यक वस्तुओं को रखने का और विचार और कर्म की स्वतंत्रता का अधिकार मिलना चाहिए। इस नीति के विरोधकों का कहना है कि ऐसा करने से लोगों का प्रोत्साहन समाप्त हो जायगा और अप्रिय आवश्यक काम नहीं हो सकेंगे। इसके जवाब में यह कहा गया है कि व्यक्ति बदले में चाहे कुछ भी करे या दे उसे जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का अधिकार तो मिलना ही चाहिए। आवश्यक कामों को करने के प्रोत्साहन के लिये प्रतियोगिता द्वारा प्राप्त हो सकने वाले सार्वजनिक ओहदों का बना रहना काफी है और यदि फैक्टरियों को मुनाफाखोरी का साधन न बनाकर स्वसंचालित वर्ग बना दिया जाय तो बहुत ही अप्रिय तरह के कामों को धीरे-धीरे हटाया जा सकता है।[1] किन्तु इस औपनिवेशिक आदर्श को पूरी तरह से स्वीकार करने पर भी यह नतीजा नहीं निकलता कि सम्पत्ति रखने का अधिकार निरपेक्ष है। तार्किक दृष्टि से ऐसे अधिकार को सबके लिये पर्याप्त सम्पत्ति होने पर सापेक्षिक होना चाहिये। यदि भयंकर दुर्भिक्ष या लोमहर्षण युद्ध के बाद संसार में अन्न का संकट पड़ जाय तो उस समय हरेक के लिये अन्न के अधिकार की दुहाई देना निरर्थक होगा क्योंकि अन्न की कमी के कारण उस पर हरेक का अधिकार नहीं हो सकता। यह प्रश्न निरपेक्ष अधिकार का न होकर संतुलित वितरण का है।

४—न्याय की धारणाएँ

निरपेक्ष अधिकारों की मान्यता में तार्किक कठिनाइयों से यह स्पष्ट

---

१. क्रोपाटकिन, अनार्किस्ट कम्यूनिज़म; और बर्ट्रेंड रसेल, प्रोपोज़्ड रोड्स टु फ्रीडम, परि० ४,

है कि अधिकारों को सामाजिक व्यवस्था, संभावनाओं और मूल्यों का सापेक्षिक मानना चाहिये। अतएव अधिकारों की समस्या ठीक वितरण की समस्या बन जाती है क्योंकि हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही मिलना चाहिये। ठीक वितरण की समस्या ही न्याय की समस्या है।

न्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं। उपयोगितावादियों की न्याय को अत्यधिक सुख के सिद्धान्त से निकालने की चेष्टा द्वारा फैलाये गये भ्रम और न्याय के किसी ऐसे सिद्धान्त की जो निरपेक्ष अधिकारों के सिद्धान्त से एकरूप हो खोज करने वाले अन्य नैतिक वर्गों के लोगों की चेष्टाओं के अतिरिक्त—जो तार्किक दृष्टि से असम्भव है—न्याय शब्द की तीन और अस्पष्टताएँ देख लेना चाहिये।

न्याय और वैधानिकता (Justice and Legality)

'अधिकारों' की भाँति 'न्याय' के भी वैधानिक और नैतिक दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। अरस्तू ने लिखा है :

विधान के अनुसार होना एक अर्थ में ही न्यायोचित है।...... विधान में सार्वजनिक, सर्वश्रेष्ठ या राज्य के अग्रगण्य लोगों के हित के उद्देश्य से ही सब चीज़ों की व्यवस्था की जाती है;...... अतएव हम 'न्याय' शब्द को एक अर्थ में समाज के सुख को उत्पन्न करने और उसका संरक्षण करने वाली चीज़ों पर लागू करते हैं। विधान हमें साहसी, सौम्य और सज्जन बनने को कहता है; विधान धर्म और अधर्मों को निश्चित करता है और कुछ कामों को करने के लिये कहता है और कुछ को नहीं। इस अर्थ में 'न्याय' दूसरों के प्रति प्रदर्शित किया जाने वाला एक पूर्ण धर्म है। इसीलिये कभी-कभी उसे मुख्य धर्म कहा जाता है,......और यह कथन एक कहावत बन गया है, "सारे धर्म न्याय में ही हैं।"[1]

---

१. दि नाइकोमैकियन एथिक्स, ५, १, ११-१५

न्याय में वैधानिकता मानना यूनानी दृष्टिकोण की विशेषता है जिसके अनुसार राजनीति और नीतिशास्त्र एक ही समस्या के दो पूरक-पक्ष हैं। निकोलाय हार्टमन न्याय को 'निम्नतर धर्म' कहकर इस काल की व्यापक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करता है। न्याय 'निम्नतर धर्म' इसलिए है कि वह अधिकतर राजनैतिक है और उसे ज़बर्दस्ती लागू किया जा सकता है। हार्टमन के अनुसार न्याय राजनैतिक होने से वैधानिकता के ही समान है जिसमें नैतिकता पर ध्यान न दिया जाकर कर्त्ता की प्रवृत्ति को रुचिकर लगने वाले कामों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। "इस तरह की ध्रुवता और जबर्दस्ती नैतिकता के अर्थ की विरोधी है क्योंकि नैतिकता का सार उचित को नैसर्गिकतः ढूँढ़ लेने और विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तरह से काम करने की स्वतंत्रता ही है। अधिकारपूर्ण आदेश में अनिश्चितता न रहने से वह नैतिक आदेश नहीं है।" इस तरह न्याय, हार्टमन का कहना है, मानवी आचरण के लिए निषेधात्मक ही है यद्यपि वह अन्य धर्मों (Virtues) की आवश्यक शर्त है। विधान की विषय-गत व्यवस्था और समानता के द्वारा न्याय "वास्तविकता के क्षेत्र में श्रेष्ठ मूल्यों के लिए स्थान बना लेता है। साधारण शर्तों के न होने पर नानाविध नैतिक जीवन शुरू नहीं हो सकता। न्याय इन शर्तों को प्रस्तुत करने की नैतिक प्रवृत्ति है। न्याय अन्य मूल्यों की सिद्धि की पहली आवश्यकता है। साथ ही साथ वह सारे धर्मों में श्रेष्ठ है। न्याय श्रेष्ठ रूपों का मार्ग प्रशस्त कर देने वाली न्यूनतम नैतिकता है।"[1]

अरस्तू और हार्टमन दोनों न्याय को वैधानिकता तक ही सीमित नहीं करते यद्यपि न्याय पर वैधानिक आवरण पड़ जाने की प्रवृत्ति को दोनों ही देखते हैं। जब तक विधान की नैतिकता पर प्रश्न कर सकना संभव है तब तक न्याय के अर्थ की स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो सकती। नैतिक और वैधानिक न्याय का भेद स्पष्ट है किंतु जब न्याय को मनुष्य की प्रवृत्ति

---

१. निकोलाय, हार्टमन, एथिक्स, जि० २, पृ० २३१-३२

और न्याय को सामाजिक अंगों के सम्बन्ध के भेदों पर ध्यान नहीं दिया जाता तो नैतिक और वैधानिक न्याय में मतिभ्रांति हो जाती है। पहले अर्थ में हम व्यक्ति को न्यायी और दूसरे अर्थ में सरकार को न्यायपरायण कहते हैं। अरस्तू न्याय की परिभाषा इन दोनों अर्थों में करता है: "न्याय व्यक्ति को न्यायी बनाने वाली और जो कुछ वह उचित समझता है उसे उचित ढंग से करवाने वाली आदत और चरित्र है।" किंतु न्याय का भेद बताते हुए अपनी परिभाषा को पूरा करते समय अरस्तू इस बात की परीक्षा करता है कि न्यायी व्यक्ति वस्तुओं का वितरण अर्थात् अपनी सामाजिक व्यवस्था को किस ढंग से समुन्नत और स्थापित करने की चेष्टा करेगा। वर्तमान भेद का न्याय के नैतिक और वैधानिक भेद से तादात्म्य नहीं है। आधुनिक धारणाओं के अनुसार विधान को मानवी प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करने का अधिकार तब तक नहीं है जब तक वे समाज के लिए ख़तरनाक न साबित हों। अतएव विधान यदि समाज के विभिन्न अंगों में समान सम्बन्ध स्थापित कर सकता है तो उसका काम पूरा हो जाता है। इसके विपरीत नैतिक न्याय मनुष्य की प्रवृत्तियों और उद्देश्यों तक ही सीमित नहीं है क्योंकि नैतिक आलोचना मनुष्यों की ही नहीं वरन् संस्थाओं की भी की जा सकती है।

वितरणशील और क्षतिपूरक न्याय
(Distributive and Remedial Justice)

न्याय के अर्थ का तीसरा भेद वस्तुओं के वितरण और दुरुपयोग को रोकने के उपायों से सम्बन्धित समस्याओं से है। इनको वितरणशील और प्रतिकारक न्याय की समस्याएँ कहा जा सकता है। प्रतिकारक न्याय की तीन धारणाएँ हैं: प्रतिफलात्मक (retributive), सुधारात्मक और उपयोगितावादी। प्रतिफलात्मक धारणा 'जैसे को तैसा' नियम पर आधारित है। मनुष्य को अपने अवगुण और अनौचित्य के अनुपात से ही दुख भोगना चाहिए। अरस्तू के निम्नलिखित कथन में इसी धारणा को स्वीकार किया गया है: "जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मारता

है या उसकी हत्या करता है या उसके साथ अनाचार करता है तो यह एक तरह की असमानता है; न्यायाधीश उस असमानता को मिटाने के लिए दंड देता है।"[1] इस तरह प्रतिफलात्मक धारणा पिछली बातों को देखने के दृष्टिकोण पर आधारित है। इसके विपरीत सुधारात्मक धारणा भविष्य को देखती है। उसके अनुसार पिछली बातों के लिए दंड देना उचित नहीं है, व्यक्ति को समाज में निर्माणात्मक स्थान ले सकने के लिए सुधार देना ही मुख्य बात है। उपयोगितावादी धारणा में सुधारात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपराधी के अधिकारों या उसकी कुशल पर ध्यान न दिया जाकर सामान्य सुख पर ध्यान दिया जाता है। बेंथम की व्याख्या में अपराध के कानून का काम गलत काम करने पर दुख की धमकी देना है जिससे अपने ही सुख की परवाह करने वाले लोग दूसरों को उनके सुख से वंचित न कर सकें।

नैतिक सामञ्जस्य (Moral Symmetry)

अब हम वितरणशील न्याय की और अधिक परिच्छिन्न परीक्षा कर सकते हैं। इस परीक्षा में हमें चौथे अध्याय में प्रस्तुत इस धारणा को कि न्याय के प्रश्न शारीरिक बल या प्रचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह धारणा न्याय के प्रश्नों को किस तरह समझना और लागू करना चाहिए इस नैतिक प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देती। वह न्याय सम्बन्धी नैतिक प्रश्नों का समाधान न कर उन्हें निरर्थक ही बताती है। इस सम्बन्ध में हम न्याय का निरंकुश राजा या राज्य की अन्धआज्ञाकारिता से तादात्म्य भी छोड़ सकते हैं क्योंकि यह केवल शब्द के अर्थ को बदलना मात्र ही है। शब्द का यह अर्थ परिवर्तन उपयोगितावाद में भी है। प्रश्नों का अर्थ बदल देना उनका उत्तर नहीं है।

न्याय को सबसे मुख्य बात वह है जिसे प्रोफेसर अर्बन ने "नैतिक

---

१ अरस्तू, वही, ५, ४, ४

सामञ्जस्य की अनुभूति" कहा है।[1] इसी तरह अरस्तू भी न्यायी व्यक्ति को 'समान' व्यक्ति कहता है जो अपने भाग से न तो अधिक लेता है और न कम, और नैतिक न्याय को 'समान वितरण' कहता है।[2] इससे प्लेटो की 'रिपब्लिक' में साइमोनिडीज़ द्वारा दी गई न्याय की परिभाषा की याद आ जाती है कि 'न्याय हर आदमी को उसका हक देना है।' किंतु उसी संवाद में आगे चलकर यह प्रश्न उठाया गया है कि हरेक व्यक्ति के 'हक' का निर्धारण किस सिद्धांत के आधार पर किया जा सकता है। सिजविक का कहना है कि असमानता के लिए पर्याप्त प्रमाण न होने पर न्याय का आधार समानता होना चाहिये; किंतु वह इस परिभाषा को भी अकाट्य नहीं मानता क्योंकि नीतिशास्त्र को पर्याप्त प्रमाण की आलोचना भी करनी चाहिये। उदाहरणार्थ आजकल ईश्वर में विश्वास करना और अदालत के सामने गवाही देने में कोई रिश्ता नहीं है किंतु कुछ सदियों पहले ईसाई यूरोप में यह स्वयंसिद्ध था और नास्तिक होना ही राजनैतिक अधिकार न रखने का पर्याप्त प्रमाण था। न्याय में नैतिक सामञ्जस्य की अनुभूति मानना और समानता के किसी सिद्धांत के अनुसार वितरण करने पर ही न्याय की सिद्धि मानना इन दो बातों से समस्या का केन्द्र ही बदल जाता है। समान वितरण का अर्थ यह है कि अ और ब को आधा मिलना चाहिये जब तक कि उन दोनों में किसी एक को पसन्द करने का पर्याप्त कारण न हो। मनुष्य होने के नाते अ और ब में कोई अन्तर नहीं है किंतु उनमें असमान वितरण असमानता के किस प्रभाव पर और किस परिमाण तक उचित है। और दूसरे हर वस्तु का समान वितरण भी नहीं हो सकता। सुख बाँटने से घट भी सकता है और बढ़ भी सकता है। यदि ऐसा हो तो उचित न्याय (अर्थात् वितरण) का प्रश्न वस्तुओं की अत्यधिक संख्या का उत्पादन कैसे करना चाहिये इसकी

---

१. विल्बूर एम० अर्बन, फंडामेंटल्स आव् एथिक्स, पृ० २११

२. नाइकोमैकियन एथिक्स, ५, १, ८,

अपेक्षा रख सकता है। अतएव न्याय का प्रश्न साधारण नहीं है और उसका उत्तर "दो विरोधी आदर्शों पर केन्द्रित हो जाता है जिनमें से हर आदर्श उचित सा जान पड़ता है। एक सिद्धांत तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का बराबर मूल्य है और उसका आदर होना चाहिये; इसमें ईसाई बन्धुत्व भावना की अभिव्यक्ति है। नैतिक विवेक को उचित जान पड़ने वाला दूसरा सिद्धांत यह है कि मनुष्य को उसकी अच्छाई या काम के अनुसार पुरस्कार मिलना चाहिए।"[1] इन दोनों आदर्शों में से कौन सत्य के अधिक निकट है और उन दोनों में समन्वय कर सकना कहाँ तक सम्भव है ?

हरेक को उसकी योग्यता के अनुसार

अरस्तू के मत से वितरणशील न्याय में "अनुपातिक समानता" होती है। "वस्तुओं और लोगों में यही समानता होनी चाहिए...लोगों के असमान होने पर उनका हिस्सा भी असमान होना चाहिए।"[2] किंतु मनुष्यों की असमानता का अर्थ क्या है और उचित पुरस्कार देने के लिए उनकी असमानता का निर्णय कैसे किया जा सकता है ? इसके तीन उत्तर दिए गए हैं।

पहला उत्तर यह है कि मनुष्य की योग्यता उसकी सफलता में है। इस दृष्टिकोण के व्यापक होने का स्पष्ट कारण यह है कि उसके समर्थक स्वयं सफल व्यक्ति हैं। उनसे कहिए कि अमुक मजदूर कम मजदूरी पाता है तो वे यह उत्तर देंगे कि यदि वह योग्य होता तो केवल मजदूर ही नहीं बना रहता। इस तर्क से नैतिक समस्या पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता; इसमें केवल इसी बात की घोषणा है कि चूंकि हर व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार ही पाता है अतएव नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे निर्हस्तक्षेपवाद (laissez-faire) कहते हैं। इसकी आलोचना तर्क

---

१. हेस्टिंग्स रैशडेल, दि थिअरी आव् गुड एंड ईविल, जि० १, पृ० २२३

२. नाइकोमैकियन एथिक्स, ५, ३, ६,

और परिणाम दोनों दृष्टियों से की जा सकती है। तार्किक दृष्टि से इसमें चक्रक दोष है और इसका प्रयोग आत्मसमर्थन का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही किया जाता है।

निर्हस्तक्षेपवाद के समर्थक उसकी तार्किकता की दुहाई 'प्राकृतिक अधिकारों' के आधार पर देते हैं। उनके तर्क के अनुसार मनुष्य को ईमानदारी से वही कमाने का अधिकार है जो वह कमाता है और इसे वे स्वतंत्रता का अधिकार कहते हैं। मनुष्य को जो कुछ उसने कमाया है और जो कुछ उसे औरों से मिलता है उसे रखने का भी अधिकार है (सम्पत्ति का अधिकार) । मनुष्यों के ये अधिकार वैधानिक हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता किंतु वैधानिक होने के नाते ही वे नैतिक औचित्य और नैतिक निर्णय के प्रश्न के लिए उपयुक्त नहीं हो जाते। उन्हें नैतिक अधिकार मानने से सामाजिक वस्तुओं की आलोचनात्मक परीक्षा करनी पड़ती है जिनकी प्राप्ति में शायद वे बाधक होते हैं।

असमान पुरस्कार के औचित्य का तीसरा उत्तर यह घोषित कर कि कुछ मनुष्यों का मूल्य अन्य मनुष्यों से अधिक होता है पहले उत्तर के चक्रक दोष से बच जाता है। मनुष्यों का अधिक मूल्य अधिक पुरस्कार मिलने से न होकर समाज के लिए उनके अधिक मूल्यवान काम से होता है। किसी बैंक के संचालक या किसी संस्था के प्रधान को अधिक रुपया मिलना चाहिए क्योंकि उसके बिना बैंक या संस्था का संचालन सुचारु रूप से नहीं हो सकता। किंतु यदि किसी काम में दोनों मनुष्यों की आवश्यकता हो तो उनमें से एक को अधिक योग्य कहने का क्या अर्थ है? मोटर के कारखाने में मज़दूरों का काम उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि उस कारखाने के संचालक का। मोटर के उत्पादन में मजदूरों का काम संचालक से अधिक आवश्यक है। किंतु तर्क यह दिया जाता है कि मोटर बनाने के लिये अनेक मज़दूर मिल सकते हैं किंतु कारखाने के संचालन के लिए बहुत कम लोग। माना कि यह ठीक हो किंतु फिर भी

यह पूछा जा सकता है कि वे कौन से कारण हैं जिनसे संचालन का काम कुछ लोग ही कर सकने की क्षमता रखते हैं। यदि मज़दूर को भी बचपन से वही सुविधाएँ दी जातीं तो क्या सबूत है कि वह भी एक कुशल संचालक नहीं बन पाता ? ऐसा सबूत दे सकना सम्भव नहीं है। दो मनुष्यों की तुलना उनके पालन पोषण के परिणाम हो चुकने के बाद ही की जाती है। समाज में दोनों व्यक्तियों को बचपन से ही समान अवसर देने पर बात शायद उलटी ही हो जाय यह एक खुला सवाल है।

> समाज में सुविधा प्राप्त वर्ग के दिखावे का साधारण रूप यह है कि वह वर्ग अपनी सुविधाओं को अपनी विशेष योग्यताओं के लिए समाज द्वारा दिया गया पुरस्कार समझता है। समाज जब तक आवश्यक सेवाओं के लिए विशेष पुरस्कार देना नैतिक दृष्टि से उचित और सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समझता है......तब तक सुविधा प्राप्त वर्ग अपनी दृष्टि में अपने को सदा न्यायसंगत समझ सकता है। परम्परागत अधिकार और सुविधा प्राप्त वर्ग की यह युक्ति यदि समीचीन है तो इस बात का प्रमाण देना पड़ेगा या मानना पड़ेगा कि असुविधा प्राप्त वर्ग समान अवसर मिलने पर भी सुविधा प्राप्त वर्ग के समान काम करने की क्षमता नहीं ला सकता। सुविधा प्राप्त वर्ग इसको सदा मानता आया है। सुविधा से शिक्षा और सामाजिक स्थिति के अधिकार से जिन क्षमताओं का लाभ होता है उन्हें सहज ही जन्मजात समझ लिया जाता है। सुविधा प्राप्त वर्ग के योग्य आदमियों की ओर ही देखा जाता है और उन लोगों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता जो परम्परागत सुविधा पाकर भी अयोग्य और धूर्त ही रह जाते हैं। दूसरी ओर सुविधा प्राप्त वर्ग की यह आदत सदा से रही है कि वह शोषित वर्ग को जन्मजात क्षमताओं को विकसित करने का कोई अवसर न

देकर उसे उस बात के लिए दोष देता है जिसको पाने के अधिकार से उसे वंचित किया जाता है।[1]

सामाजिक असमानता की एक युक्ति और भी है जो व्यक्तियों के असमान कामों की दुहाई न देकर (इसलिए वह ठीक अर्थ में न्याय की दुहाई भी नहीं देती) इस विश्वास की दुहाई देती है कि समान वितरण से पदार्थों का कुछ परिमाण घट सकता है और अत्यधिक मूल्यवान पदार्थ नष्ट हो सकता है। हेनरी जेम्स को अमेरिका में अवसर-उपलब्ध वर्ग के न होने का क्षोभ था क्योंकि सुन्दर वस्तुओं की परख और सुन्दर शिष्टाचार को वही वर्ग सजीव रख सकता है। इस बात के सत्य को स्वीकार करते हुये भी पदार्थों के अत्यधिक परिमाण और उनके समान वितरण का प्रश्न फिर उठ खड़ा होता है। अत्यधिक परिमाण का ध्यान न रखते हुये शायद कोई भी समानता की जिद नहीं करेगा। संकट ग्रस्त समय में यदि बीस आदमियों के पास इतना ही खाना बचा हो कि सहायता पहुँचने तक उनमें से पाँच आदमी ही खाकर बच सकते हैं तो समान वितरण की जिद करना बौद्धिक समाधान नहीं होगा क्योंकि ऐसे समय समान वितरण से सभी लोग भूखों मर जायेंगे किंतु वैसे पाँच की जान बच सकने की आशा हो सकती है। इसी तरह यूनानी संस्कृति अपने समय की आवश्यकताओं में दासता के बिना पनप नहीं सकती थी। इस प्रकार यूनानी दास प्रथा पच्चीस सौ वर्ष की संस्कृति की परोक्ष रूप से अनिवार्य शर्त रही है और उन शक्तियों की शर्त भी रही है जिन्होंने आखिरकार यूरोप और अमेरिका से दास प्रथा को समूल नष्ट ही कर डाला। तब क्या हम यूनानी दास प्रथा को इसलिए उचित समझ सकते हैं कि उसने मानव जाति का अत्यधिक हित किया जो शायद उस प्रथा

१ राइनहोल्ट नीबूर, मारल मैन एंड इम्मारल सोसायटी, पृ० ११७-१८ (स्क्राइबनर)

के बिना नहीं हो सकता था? और क्या इस आधार पर यूनानी दासों के प्रति अन्याय की उपेक्षा कर सकते हैं?

किंतु समान न्याय के सिद्धान्त में ऐसे अपवादों को मानकर भी उस मान्यता को अधिक आगे ले जाना अमानुषिक और खतरनाक है। हेनरी जेम्स की इस ज़िद का कि संस्कृति को अवसर-उपलब्ध वर्ग की आवश्यकता है नीबूर इस तरह मुँह तोड़ जबाब देता है:

> संस्कृति के लिए पर्याप्त अवसर की आवश्यकता अवसर-उपलब्ध वर्ग के होने का पर्याप्त औचित्य नहीं है। हर कलाकार और कला के दो प्रशंसकों की खातिर हजारों व्यर्थ आदमियों का पतन होता है। बौद्धिक समाज इस बात को समझेगा कि उसे प्रतिभाशाली कलाकारों और वैज्ञानिकों का पालन किस तरह करना चाहिए और वह उन्हें तत्कालिक उपादेय कामों में व्यापृत होने की आवश्यकता से मुक्त कर देगा।[1]

समानतावाद (Equalitarianism)

अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के परिणाम स्वरूप आदर्शों के परिवर्तन से तथाकथित प्रजातंत्रीय शासन के विभिन्न रूपों में रहने वाले लोग समान अधिकारों को एक स्वयंसिद्ध राजनैतिक बात समझने लगे हैं। साधारणतया लोग उपर्युक्त कथन का अर्थ केवल राजनैतिक अधिकारों की समानता ही समझते हैं; उन्हें इस बात की कतई परवाह नहीं है कि राजनैतिक अधिकार भी सब को समान रूप से प्राप्त नहीं है, अनेक राज्यों में गरीबों को मताधिकार नहीं है, काले लोगों को मतदान देने के अधिकार से वंचित्त रक्खा जाता है और फैक्टरी के मालिक अक्सर अपने सैकड़ों कर्मचारियों के मतदान पर नियंत्रण रखते हैं। यदि राजनैतिक अधिकार सब लोगों को समान रूप से दे भी दिए जाँय तो भी वास्तविक अर्थ में समानता की वृद्धि नहीं होगी। कर्मचारियों के दृष्टिकोण से वह

---

१ नीबूर, वही, पृ० १२८

समानता केवल शेखचिल्ली की समानता ही है जो उसे दो उम्मीदवारों में से एक को मत देने पर बाध्य करती है जबकि उन दोनों की नीति उन्हीं आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को बनाए रखना है जिसे कर्मचारी भुगतता रहा है।

जब हम राजनैतिक आदर्श से आर्थिक समानता के आदर्श की ओर आते हैं तो बहुत से प्रश्न उठ खड़े होते हैं। आर्थिक समानता का अर्थ यदि काम को देखे बिना वस्तुओं का समान वितरण हो तो क्या इससे काम करने का प्रोत्साहन नष्ट नहीं हो जायगा ? अधिकांश लोग ऐसा ही समझते हैं किंतु चूँकि यह स्थिति कभी अनुभव नहीं की गई है इसलिए उसके परिणामों के बारे में कुछ कह सकने का कोई आधार नहीं है। रैशडेल ने पूर्ण आर्थिक समानता के प्रति की गई आपत्तियों को एक दार्शनिक आधार पर रक्खा है। उसके अनुसार पूर्ण आर्थिक समानता समानता के एक मूलभूत सिद्धान्त का उल्लंघन करती है :

> निठल्लू और परिश्रमशील दोनों आदमियों को समान पुरस्कार देना उसको एक न समझकर अनेक समझना है क्योंकि उसके भरण पोषण के लिए समाज के उद्यमी लोगों को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा।[1]

समान वितरण का दूसरा प्रश्न यह है : वितरण किस वस्तु का किया जाय ? खाना, जमीन और रुपए का ? इस तरह का समान वितरण समानता के आदर्श को पराजित कर सकता है क्योंकि मनुष्य की उपयोग करने की आवश्यकताएँ और क्षमताएँ विभिन्न हैं और समान वितरण उनके हित को असमान बना सकता है।

बहुधा समानता का अर्थ अवसर की समानता समझा जाता है। यह आदर्श सामाजिक सुधार की दृष्टि से मूल्यवान है किंतु इसमें भी अस्पष्टताएँ हैं। अवसरों को समान कैसे बनाया जा सकता है ? यह तभी

---

१ रैशडेल, वही, जि० १, पृ० २२०

हो सकता है जब परिवार की संस्था को तोड़ दिया जाय क्योंकि जब तक परिवार रहेगा तब तक कुछ लोगों को अधिक उपयुक्त माँ-बाप मिलने का सौभाग्य मिलता ही रहेगा। सामाजिक समानता के बिना अवसरों की पूर्ण समानता नहीं दी जा सकती इसके लिए कुछ हद तक व्यक्ति के निजी जीवन में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जायगा जो उसे असह्य लगेगा। इसके अलावा अवसरों की पूर्ण समानता का क्या अर्थ है ? इस समस्या का एक रूप तो हर शिक्षक जानता है। अवसरों की समानता के अनुसार क्या शिक्षक को इस तरह पढ़ाना चाहिए जिसे सब विद्यार्थी समान रूप से समझ सकें ? किंतु ऐसी नीति से तेज़ लड़कों की प्रगति में बाधा पड़ेगी और उन्हें अपनी क्षमताओं को अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं मिलेगा। तेज़ लड़कों पर ही ध्यान देना भी समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन करना होगा। योग्य शिक्षक मध्यम मार्ग पर ही चलता है और जानता है कि ऐसे मामलों में निरपेक्ष समानता अप्राप्य ही नहीं वरन् निरर्थक भी है।

समानता का एक सुन्दर आदर्श लुई ब्लांक की घोषणा में मिलता है, "हरेक से उसकी क्षमताओं के अनुसार लो और हरेक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दो।" इस आदर्श में व्यावहारिक मुश्किलें जो भी हों किंतु बहुतों को यह साध्य सा लगता है और इसमें समानतावाद की ऊपर वर्णित की गई तार्किक कमज़ोरियाँ नहीं हैं। यहाँ जिस समानता पर ज़ोर दिया गया है वह वाह्य वस्तुओं की समानता नहीं है, यद्यपि उसे एक उपसिद्धि (corollary) माना जा सकता है, वरन् वह समानता है जिसे रैशडेल ने "आकलित करने की समानता" (equality of consideration) कहा है। इस आधार पर संकटग्रस्त बीस आदमियों के विरोधाभास का हल मिल जाता है। उनमें से पन्द्रह का मर जाना निश्चित है और सबके नष्ट हुए बिना निरपेक्ष समानता संभव नहीं है। ऐसे अवसर पर "आकलित करने की समानता" की माँग के अनुसार वे लाटरी डालकर समझौता कर सकते हैं। यह ठीक है कि सब लोग उच्च

शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते किंतु उच्च शिक्षा के लिए चुनाव सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार न किया जाकर योग्यता के अनुसार किया जाना चाहिए। "आकलित करने की समानता" न्याय का गूढ़तम अर्थ है और उसका उग्रतम विरोध करना अहम्वाद है।

अहम्वादी का दृष्टिकोण यह होता है कि जीवन की सब अच्छी चीज़ें केवल उसी को मिलनी चाहिए चाहे वे औरों के लिए शेष रहें या न रहें। इसके विरुद्ध न्याय की माँग यह है कि ध्यान एक व्यक्ति पर न दिया जाकर सब पर समान रूप से दिया जाना चाहिए। न्याय का सिद्धान्त सब तरह के कुकर्मों और पापों का प्रतिवाद है चाहे वे अपने साथी के प्रति किए गए हों या जीवन, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति, ख्याति और आत्मसम्मान के प्रति। अतएव न्याय का सिद्धान्त कांट के निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) की पुनरुक्ति सी ही लगती है। निरपेक्ष आदेश न्याय को सैद्धान्तिक समानता से परे ले जाकर उसका तादात्म्य व्यक्तियों के निरपेक्ष मूल्य से कराता है। न्याय के पहले सिद्धान्त "दूसरों के अधिकारों का सम्मान उसी तरह से करो जिस तरह तुम उनसे अपने अधिकारों का करवाना चाहते हो" में दूसरा सिद्धान्त भी निहित है जिसे कांट के शब्दों में अभिव्यक्ति मिली थी और जिसकी पुनरुक्ति रेनोवीर ने फिर की थी : "मूल्य और स्वभाव में अपने साथी को समान समझो और उसे स्वयं साध्य मानो; अतएव उसे अपने साध्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र मत बनाओ।"[1]

[1] रेनोवीर, वही, जि० १, पृ० २८. छठे अध्याय में कांट के नैतिक नियम का दूसरा रूप देखिए।

नीतिशास्त्र का तात्विक आधार

किसी समस्या पर संलग्नता से ध्यान देने पर हम उसकी तह की बातों तक पहुँच जाते हैं। समुद्र के किनारे पड़े कंकड़ को देखकर हम भौतिक पुद्गल की जटिलता के रहस्य पर मनन करते हैं और भौगोलिक इतिहास को देखकर मानव जीवन को क्षण भर टिमटिमाने वाली दीपक की लौ समझते हैं। जनसाधारण के लिए यह मामूली बातें हैं किंतु खोज जब व्यवस्थित ढंग से की जाती है तो इन परम बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। नीतिशास्त्र का क्षेत्र ऐसी ही खोज का है।

नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन दो प्रकार की दार्शनिक समस्याओं की ओर संकेत करता है। पहली समस्या यह है कि यदि नीतिशास्त्र के खोज विषयक क्षेत्र को प्रामाणिक होना है तो उसकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ क्या होनी चाहिए। नैतिक समस्या का पहले अध्याय में किया गया विश्लेषण इस प्रकार की मान्यताओं की ओर संकेत करता है। हम दो बातों में वरण करने में स्वतंत्र हैं : यह एक नैतिक मान्यता है क्योंकि यदि इसको स्वीकार न किया जाय तो सारा नैतिक वाद विवाद निरर्थक हो जायगा। अतएव यह कहा जा सकता है कि नैतिक वाद विवाद के क्षेत्र को इस मान्यता की अपेक्षा है। इन प्राथमिक मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ 'अतिशय-विश्वास' (over beliefs) भी होते हैं, जैसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास और इतिहास के पीछे कोई सार्थक उद्देश्य होने का विश्वास। यद्यपि नैतिक वाद विवाद के क्षेत्र को उनकी अपेक्षा नहीं होती तथापि वे नीतिशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और कभी कभी सन्तोषजनक नैतिक प्रवृत्ति का आधार बन जाते हैं।

१. नैतिक द्वन्दात्मक तर्क (Ethical Dialectic)

नीतिशास्त्र के स्वभाव और उसकी तार्किक मान्यताओं की समस्या नैतिक न होकर दार्शनिक है। अनुभव के विज्ञानीय, नैतिक, सौंदर्य विषयक, धार्मिक, आर्थिक, भावनात्मक आदि विभिन्न पहलुओं की परीक्षा और उनके पारस्परिक सम्बन्ध और स्वभाव का निर्धारण करना दर्शन का काम है। दर्शन वाद विवाद का क्षेत्र न होकर खोज की रीति ही अधिक है। दर्शन में वस्तुओं की गम्भीर आलोचनात्मक परख की जाती है। "दर्शन परिचित वस्तु को अपरिचित समझता है और अपरिचित को परिचित समझता है......वह हमें हमारी रूढ़िवादी नींद से जगाता है और हमारे पक्षपातों को तोड़ देता है।"[१]

दर्शन के विद्यार्थी के लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक और कठिन है कि दर्शन में 'सत्य' का वह अर्थ नहीं होता जो अन्य खोज़ विषयक विशेष क्षेत्रों में होता है। गणितज्ञ अपने सत्य को संख्याओं से अभिव्यक्त करता है, मनोवैज्ञानिक अपने सत्य को कल्पनाओं और अन्तर्प्रेरणाओं से अभिव्यक्त करता है, अर्थशास्त्री विनिमय मूल्य द्वारा बताता है। किंतु दर्शन ज्ञान के इन सीमित दृष्टिकोणों से परे जाने वाली प्रवृत्ति है। दर्शन में किसी संगठित और एकतापूर्ण दृष्टिकोण की तलाश की जाती है। अतएव दर्शन में खोज के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्सम्बन्ध पर प्रश्न किया जाता है। दर्शन उन क्षेत्रों के अर्थों और मूल्यों की परख सम्पूर्णता के दृष्टिकोण से करता है। मान लीजिये कोई यह प्रश्न उठाता है कि 'मैं क्या हूँ?' भौतिक वैज्ञानिक का उत्तर होगा कि अरबों खरबों विद्युत तरंगों का जटिल समूह; रासायनिक कहेगा कि अनेक ठोस और तरल पदार्थों का मिश्रण; जीवविज्ञानवेत्ता कहेगा कि अपने को परिवेश से संयोजित करने वाला एक प्राणी; मनोवैज्ञानिक कहेगा कि विभिन्न गुणात्मक मानसिक

१ विलियम जेम्स, सम् प्रॉब्लम्स आव् फिलॉसफी, पृ० ७

अवस्थाओं की राशि; अर्थशास्त्री कहेगा कि उत्पादन और उपभोग करने वाली एक सामाजिक इकाई; ईश्वरवादी कहेगा कि ईश्वर को प्रतिबिम्बित करने वाली एक आत्मा। दार्शनिक के लिये ऐसे प्रश्न का उठाना ही गलत है। यहाँ समस्या वरण करने की न हो कर समन्वय करने की है। ज्ञान का हर क्षेत्र जगत के किसी न किसी पक्ष की व्याख्या करता है; सत्य उसमें से किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं होता। दर्शन में सत्य पर द्वन्दात्मक रूप से विचार किया जाता है; दर्शन अपनी खोज के हर क्षेत्र के सत्य की भावात्मक मात्रा और सीमा को स्वीकार करता है।

द्वन्दात्मक तर्क का नैतिक चिंतन में क्या स्थान है इस पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। द्वन्दात्मक तर्क द्वारा मान्यताओं और निहित बातों को स्पष्ट किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दार्शनिक कार्यविधि में कोई विचित्रता या रहस्य है। दार्शनिक चिंतन और नित्यप्रति की सामान्य समस्याओं पर किये जाने वाले चिंतन में प्रकार भेद नहीं है; अन्तर केवल इतना ही है कि दार्शनिक चिंतन अधिक स्पष्ट और सुलझा हुआ होता है। क्योंकि :

> हर तरह का चिंतन जहाँ तक वह शब्दों का खेल और पुनरुक्ति मात्र नहीं है किसी हद तक द्वन्दात्मक होता है। हमारा चिंतन स्पष्ट रूप से परिभाषित मान्यताओं से शुरू होकर निश्चित स्तरों पर से होता हुआ एक ही दिशा में किसी निहित निष्कर्ष की ओर नहीं बढ़ता। चिंतन की क्रिया पूरी होने पर ही उसके औपचारिक सम्बन्धों (formal relations) को दिखाया जा सकता है......इसकी बहुत उपादेयता है। इस तरह के प्रदर्शन से चिंतन की विधि की व्याख्या तो नहीं होती किन्तु उससे हमारी औपचारिक विधायक वृत्ति की दिशा को निर्धारित करने वाले निहित सम्बन्धों का पता चल जाता है।[1] चिंतन

---

१. **मूलवाक्य यों है**......it does show the implicit

पर इस ढंग से विचार करने का कारण उसकी वास्तविक प्रक्रिया को न देख केवल उसके परिणामों को ही देखना है।[1]

उदाहरणार्थ विज्ञानीय चिंतन में अलग अलग तथ्यों को एकत्रित मात्र ही नहीं किया जाता जिनसे अनिवार्यतः एक ही निष्कर्ष निकलता हो। तथ्य अन्य ज्ञात तथ्यों से अन्तर्सम्बन्धित होने और बुद्धि के साँचे में ढलने पर ही सार्थक बनते हैं। विज्ञानीय खोज पहले से ही विद्यमान ज्ञान में किसी तथ्य को जोड़ देना मात्र नहीं है। विज्ञानीय खोज से पहले विद्यमान ज्ञान के किसी न किसी पहलू के प्रति एक नया आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी बनता है। संक्षेप में विज्ञान भी खोज के हर क्षेत्र की भाँति यांत्रिक (mechanical) न होकर आंगिक (organic) है। उसके किसी पक्ष की पर्याप्त जांच करने पर भी उसकी विषय-सामग्री में क्रांति कहाँ तक की जा सकती है इसका पूर्वकथन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अन्य चिंतनों की भाँति विज्ञान भी किसी हद तक द्वन्दात्मक है किंतु वह हद हर स्थिति में मान्यताओं और परिभाषाओं से सीमित होती है। डाक्टर मलेरिया के अनेक कारण दे सकते हैं किन्तु वैज्ञानिक होने के नाते वे मलेरिया को हनुमान जी का कोप नहीं कहेंगे। विज्ञानीय दृष्टिकोण में आधिदैविक बातों का कोई स्थान नहीं है। विज्ञान में उन्हीं बातों पर विचार किया जाता है (१) जिनकी बार बार परख की जा सके और (२) जिन्हें तार्किक रूप में अभिव्यक्त किया जा सके; और आधिदैविक बातों में ऐसा नहीं हो सकता। आज भी कई ऐसी बीमारियाँ हैं जो उपर्युक्त शर्तों को पूरा नहीं करतीं, किंतु विज्ञानीय खोज सदा यह मानकर

---

relations which determine whether we shall build up formal constructions in one direction rather than another.

१. जेम्स बर्नहाम एंड फ़िलिप ह्वीलराइट, इंट्रोडक्शन टु फिलोसाफिकल एनालिसिस, पृ० १७१

की जाती है कि हर बात का कोई कारण अवश्य होता है और उस बात की आधिदैविक व्याख्या करना गलत है; और भविष्य में उस कारण का पता चल जाने की आशा की जाती है।

दर्शन का प्रविधिक पक्ष पूरी तरह से द्वन्दात्मक होता है। गणित, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, तत्वसमीक्षा या नीतिशास्त्र आदि के दार्शनिक विवेचन में (१) हर क्षेत्र के मूलभूत शब्दों और (२) हर क्षेत्र की मूलभूत मान्यताओं की परीक्षा की जाती है। अर्थशास्त्र में उत्पादन, विनिमय, पूँजी आदि शब्दों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है; अतएव अर्थशास्त्र को ठीक से समझने के लिए उन शब्दों के अर्थों की परीक्षा करनी पड़ती है। कभी कभी किसी क्षेत्र की आधारभूत मान्यताओं और शब्दों को स्वीकार करने में मतभेद होता है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी द्वन्दात्मक परीक्षा ही न की जाय।

'श्रेयस्' की अनिर्वचनीय प्राथमिक धारणा

(Good as a Primary Indefinable)

नीतिशास्त्र में 'श्रेयस्' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता है। नैतिक खोज श्रेयस् के अर्थ को परिभाषा के बिना किसी न किसी तरह समझ लेने पर ही की जा सकती है। हो सकता है कि उसका मूल अर्थ साधारण हो किंतु खोज के क्रम में उसका अर्थ विकसित हो सकता है। हर क्षेत्र के मूल अर्थों का परिचय ज्ञान से पहले ही होता है। जी० ई० मोर ने तो 'श्रेयस् (Good) को पीलेपन की भाँति एक निरवयव धारणा कहा है जिसको समझा सकना असम्भव है। उसका अनुभव तो स्वयं होना चाहिए। परिभाषा में तो निरवयव धारणाओं का विश्लेषण किया जाता है और पहले से ही समझी गई धारणाओं से उनका उपमान (comparison) किया जाता है। किंतु पीलापन और श्रेयस् जटिल न होकर "परिभाषाओं को निर्मित करने वाली निरवयव धारणाएँ हैं जिनकी परिभाषा नहीं दी जा सकती।"

'पीलेपन' और 'श्रेयस' के इस तार्किक सामान्य गुण के अतिरिक्त उन दोनों में दो आवश्यक भेद भी हैं। पहला भेद अर्थ का है। हलके और गहरे का भेद होते हुए भी पीला रंग पीला ही है। किंतु श्रेयस के अनेक संभव अर्थ हैं और नीतिशास्त्र के विद्यार्थी को उन्हें जानना चाहिये। नीतिशास्त्र 'श्रेयस' के स्वभाव की व्यवस्थित खोज का क्षेत्र है किंतु पीले रंग के स्वभाव की व्यवस्थित खोज संभव नहीं है। दूसरा भेद ज्ञानपक्षीय है: वह दोनों शब्दों को जानने के ढङ्ग का भेद है। पीले रंग और श्रेयस दोनों का ही साक्षात् होता है किंतु पीले रंग का साक्षात् केवल प्रत्यक्ष मात्र ही है जब कि श्रेयस के साक्षात् के साथ अनेक जटिल भावनाएँ होती हैं।

श्रेयस का अर्थ वांछनीय कार्य के साध्य की भाँति जाना जाता है और चूँकि उस कार्य को किया जा सकता है या छोड़ा जा सकता है इसलिए हर व्यक्ति 'श्रेयस' का अर्थ अलग अलग ढङ्ग से करता है और इस प्रकार श्रेयस के अर्थ का विकास होता है, चाहे अच्छे के लिए हो चाहे बुरे के लिए। यह विकास कुछ सीमा तक भावनाओं और भविष्य के मार्ग को परिवर्तित करता है और इस प्रकार आदर्शों और कर्मों की अन्तर्क्रिया (उन लोगों के लिए जो अपनी अन्तर्प्रेरणाओं और आदतों के गुलाम नहीं हैं) अधिकाधिक सन्निहित हो जाती है। अपने अधिक विकसित रूपों में श्रेयस का प्रत्यय (idea of good) विवेक पूर्ण विश्लेषण और आलोचना की चीज बन जाता है और वही विश्लेषण और आलोचना नैतिक खोज का रूप है। इस प्रकार श्रेयस अभिरुचि या इच्छा के किसी विषय का प्रत्यक्ष अनुभव बन जाता है क्योंकि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है वह किसी न किसी तरह से अच्छी और श्रेयस्कर भी प्रतीत होती है चाहे भाषा या विचारों की परम्परा के कारण उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार न किया जा सके। एक दूसरे आवश्यक अर्थ में श्रेयस् अभिरुचि या इच्छा का विषय ही न होकर वैकल्पिक इच्छाओं और अभिरुचियों की परीक्षा, उनके परिणामों पर विचार और उनके निहित

मूल्यों को बौद्धिक रूप से स्वीकार करने के बाद वांछनीय लगने वाली वस्तु है।

नीतिशास्त्र की पाँच मान्यताएँ

नीचे वर्णित नीतिशास्त्र की पाँच मान्यताएँ स्वयंसिद्ध नहीं हैं क्योंकि उनमें से किसी से भी इनकार कर सकना संभव है। गणित की इस स्वयं सिद्ध बात कि यदि दो संख्याएँ किसी तीसरी संख्या के बराबर हों तो वे आपस में भी बराबर होंगी को न मानना निरर्थक है। किंतु नीतिशास्त्र की मान्यताओं को तार्किक दृष्टि से अस्वीकार किया जा सकता है। उनका सत्य उनकी आन्तरिक तार्किक अनिवार्यता पर निर्भर न होकर उनके उन निश्चित अर्थों पर निर्भर रहता है जिन अर्थों में नीतिशास्त्र में उनका प्रयोग किया जाता है। नैतिक खोज की संभावना और सार्थकता स्वीकार करने पर नैतिक मान्यताओं के सत्य को स्वीकार करना पड़ता है; उनको अस्वीकार करने पर नीतिशास्त्र की संभावना से भी इनकार करना पड़ता है। चूँकि इस पुस्तक के पाठक नैतिक खोज की संभावना को स्वीकार करेंगे इसलिए यदि प्रदर्शन करना संभव भी हो तो भी नैतिक मान्यताओं के प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है।

(१) मूल्य की मान्यता—इस मान्यता पर पहले अध्याय के दूसरे खण्ड में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। इस मान्यता के अनुसार मूल्य एक सार्थक वस्तु है अर्थात् कुछ चीजों में, चाहे वे वास्तविक हों या काल्पनिक, मूल्य होता है। मूल्य रखने का अर्थ श्रेयस्कर होना है। और चूँकि श्रेयस्कर होना सापेक्षिक बात है और उसकी सार्थकता किसी वस्तु को अन्य वस्तु की अपेक्षा अच्छा मानने में ही होती है इसलिए हम कुछ वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से अच्छा मान सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारी पसन्द और वरण का बौद्धिक आधार होता है।

(२) अभाव की मान्यता (postulate of non-actuality)—यह एक सर्वमान्य बात है कि मूल्यों का लाभ अपूर्ण रूप से होता है। यदि जगत में सर्वोपरि मूल्यों की सत्ता होती और यदि जगत हर दृष्टि से

पूर्ण होता तो नैतिक कर्तव्यों और बाध्यता का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि तब वास्तविकता और श्रेयस् (good) में पूर्ण तादात्म्य होता और किसी भी प्रकार की नैतिक चेष्टा व्यर्थ होती।

(३) संभावना की मान्यता—नैतिकता नाम की चीज़ होने के लिए श्रेयस् को कुछ हद तक अप्राप्य न होकर प्राप्य भी होना चाहिए। इस मान्यता में नैतिक वरण को स्वीकार किया गया है; कुछ ऐसे काम हैं जिन्हें करना या न करना नैतिक कर्त्ता के हाथ की बात है। पहले अध्याय में यह बताया गया था कि नैतिक आग्रह में 'करना चाहिए' या 'नहीं करना चाहिए' का कोई स्थान नहीं है। अमुक काम करना चाहिए यह हम तभी कहते हैं जब हम उस काम को कर सकते हैं : नैतिक आग्रह में कर सकने का भाव निहित होता है।

यह तीसरी मान्यता यद्यपि नैतिक आग्रह में निहित है किंतु नैतिक आग्रह इस मान्यता में निहित नहीं है। किसी काम को करने की संभावना में उस काम को करने का आग्रह निहित नहीं है। किंतु तीनों मान्यताओं को एक साथ लेने पर नैतिक आग्रह स्पष्ट हो जाता है। कर्त्ता जब किसी वस्तु को अच्छा समझता है, जब उस वस्तु की प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है और जब उसको पा लेना कर्त्ता की शक्ति में है तो उसको पाना कर्त्ता का कर्तव्य हो जाता है (यदि कोई अन्य श्रेष्ठ कर्तव्य बीच में न हो तो)।

(४) ध्रुवता की मान्यता (postulate of permanence)—जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है नैतिक वरण परिणामिक (consequential) होता है : वह जिन वैकल्पिक मूल्यों की ओर इशारा करता है वे अस्थाई नहीं होते। अतएव इस चौथी मान्यता में मूल्यों के स्थायित्व या ध्रुवता को माना जाता है। यदि परिस्थितियों में कोई परिवर्तन न हो तो कोई काम या स्थिति नैतिक दृष्टि से उसी सीमा तक अच्छी या बुरी बनी रहती है।

चौथी मान्यता पहली दृष्टि में गलत या चक्रक दोषमय लगती है। नैतिक निर्णयों में परिवर्तन होता है और जो काम या स्थितियाँ

आज अच्छी या बुरी समझीं जातीं हैं कालान्तर में विभिन्न दृष्टि से देखी जा सकती हैं। और यदि 'परिस्थितियों के परिवर्तन' वाक्य में सब काल के नैतिक निर्णयों को सम्मिलित कर लिया जाय तो चौथी मान्यता में चक्रक दोष हो जाता है क्योंकि तब उसका अर्थ यह हो जाता है कि व्यक्तियों के निर्णय और उस निर्णय को प्रभावित करने वाली शर्तें ही बदल जाती हैं किंतु कामों और स्थितियों की अच्छाई या बुराई का परिणाम वही रहता है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि नैतिक प्रथाओं और भावनाओं के सभी परिवर्तन नैतिक निर्णय की परिस्थितियों के न ही बिल्कुल अन्दर होते हैं और न ही बिल्कुल बाहर। प्रसंगानुकूलता किसी नियम का अनुसरण नहीं करती; वह भेद और विवेक करने का विषय है। सामयिक और शाश्वत का सही सम्बन्ध समझना मानवी बुद्धि की एक कठिन परीक्षा है। फिर भी हम सब परिस्थितियों के कुछ परिवर्तनों को नैतिक निर्णय के अधिक प्रसंगानुकूल समझते हैं। किंतु इच्छाओं के प्रवाह में बह जाने पर प्रसंगानुकूलता अविकल नहीं रहती और परिस्थिति के परिवर्तनों को कर्तव्यपराङ्मुख होने का बहाना बना लिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से चौथी मान्यता नैतिक निर्णयों के परिवर्तनों को सीमित कर देती है। वह परिस्थितियों से सापेक्षतः स्वतंत्र आदर्श मापदंडों को उचित ठहराती है। आदर्श मापदंड नैतिक वरण में उत्तरदायित्व की भावना रखकर उसे विषयगत बना देते हैं। "किसी चीज का मूल्यांकन करना", रेमन फर्नैन्डेज ने लिखा है, "उसे व्यक्तिगत प्रशंसाओं से बचा कर रखना है। उसे अपने ऊपर अधिकार देना है और इस तरह विधान को निश्चयात्मक बना देना है।......यदि मैं किसी सिद्धान्त का आदर करने के लिए हमेशा किसी विशेष ढंग से काम करने का निर्णय करता हूँ तो मेरे निर्णय का विश्लेषण यों किया जा सकता है : पहले मैं किसी सिद्धान्त को श्रेयस्कर मानकर उसे स्वीकार करता हूँ; और फिर उसी समय मैं उस सिद्धान्त को अपने आप से अपनी रक्षा करने के लिए नियम बना

देता हूँ।"[1] किन विशेष सिद्धान्तों को प्रामाणिक माना जाय यह दूसरा ही प्रश्न है। वे परम्परागत नैतिकता के अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। मुख्य बात यह है कि वे कर्त्ता के अपने हों; उनसे यह परिलक्षित होना चाहिए कि कर्त्ता किसे श्रेयस्कर समझता है। एक मर्यादा के अन्दर उनमें परिवर्तन भी हो सकता है क्योंकि सिद्धान्तों का विकास होना विकसित नैतिकता की एक मान्य शर्त है। सिद्धान्तों की सार्थकता सुरक्षित रखते हुए भी उनमें किस सीमा तक विकास किया जा सकता है यह कर्त्ता के ऊपर निर्भर करता है। हर कर्त्ता अपने जोखिम पर ही अपना निर्णय करता है और ऐसा करने में वह अपने भविष्य के इच्छित चरित्र का निर्माण करता है—अरस्तू इसे आत्मा की स्वस्थता कहता था।

चौथी मान्यता का एक विषयिसापेक्ष (subjective) पक्ष भी है। हम नैतिक वरण द्वारा अभिव्यक्त होने वाले मूल्यों के साथ साथ अपनी ध्रुवता को भी मानते हैं। यदि हम कल भी वही न रहें जो आज हैं तो हमारा वादा करना निरर्थक हो जायगा। यह कहकर कि हम बदल गए हैं और वही व्यक्ति नहीं रह गए हैं जो थे नैतिक बाध्यता से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। यह बात सारे नैतिक कामों पर लागू होती है। वरण करते समय हम भविष्य में अपनी ध्रुवता को मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में जब हम उत्तरदायित्व पूर्ण ढंग से वरण करते हैं तो हम अपने वरण को व्यवहार में परिवर्तित करने और उसके परिणामों को भुगतने का निश्चय कर लेते हैं। जीवन के महत्वपूर्ण निश्चयों—जैसे अपने को शिक्षित करना, नौकरी करना, विवाह करना आदि—के परिणाम मनुष्य ज़िन्दगी भर भुगतता रहता है। हर वरण का कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है और उसके साथ साथ कुछ बाध्यताएँ भी सदा होती हैं।

---

१ 'ए ह्यूमैनिस्ट थियरी आव् वैल्यू' दि क्राइटीरियन, जनवरी १९३०, पृ० २४१

इसी तरह उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से वरण करने का अर्थ भविष्य में हर समय अपने अहम् की नैतिक सामञ्जस्यता को मानकर उसके अनुसार काम करना है। इसी को चरित्र निर्माण कहते हैं जिसको आठवें अध्याय में देखा जा चुका है।

(५) सामाजिक विषयसापेक्षता की मान्यता (postulate of social objectivity)—उपर्युक्त मान्यताएँ कर्ता का अन्य व्यक्तियों से क्या सम्बन्ध है इसका स्पष्ट निर्देशन नहीं करतीं। नैतिक खोज में यह निर्देश निहित रहता है और सामाजिक नीतिशास्त्र में वह प्रकट हो जाता है। अतएव सामाजिक नीतिशास्त्र का आधार होने से पाँचवीं मान्यता बहुत आवश्यक है। उसकी उपेक्षा कोई स्वहितवादी (egoist) ही कर सकता है। इस मान्यता के अनुसार सभी व्यक्तियों का मूल्य समान होता है; वे इसके अपवाद तभी होते हैं जब उनमें आत्मत्व के भेद के अतिरिक्त और कोई भेद भी हो। व्यक्तियों में आत्मत्व के भेद के अलावा भी कोई न कोई भेद अवश्य होता है, अतएव कभी ऐसी कोई स्थिति उत्पन्न नहीं होती जिसमें इस मान्यता के अनुसार दो व्यक्तियों का समान मूल्य होना साधारणतः सिद्ध हो सके। यह मान्यता आपातिक और अपरोक्ष रूप से ही लागू होती है। नैतिक प्रश्न से सम्बन्धित भेद का अभाव होने पर तुलनीय व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों में कुछ समानता हो सकती है। नैतिक प्रश्न से सम्बन्धित बातें क्या क्या होती हैं इस पर चौथी मान्यता में विचार किया जा चुका है। वही बातें यहाँ भी लागू होती हैं।

ये पाँचों मान्यताएँ नैतिक चिंतन का ढाँचा प्रस्तुत करती हैं। इनसे इनकार करना नीतिशास्त्र की सैद्धान्तिक सम्भावना से इनकार करना है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में खोज कर सकने की सम्भावना को स्वीकार करने में उपर्युक्त पाँचों मान्यताओं का व्यावहारिक प्रदर्शन मिलता है। उनको स्वीकार करना न्यायसंगत इसलिए है कि वे एक महत्वपूर्ण खोज को सम्भव बनाती हैं। किसी भी क्षेत्र की मान्यताओं का व्यावहारिक प्रदर्शन

द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है किंतु व्यावहारिक प्रदर्शन की सत्यता उसके विरोध के अभाव में ही हो सकती है। यदि यह सच हो कि सब लोग सब परिस्थितियों में दूसरों के हित का उतना ही ध्यान रखते हैं जितना कि अपने हित का तो यह बात सामाजिक नीतिशास्त्र की महत्व-पूर्ण मान्यता बन सकती है। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है।

कुछ नैतिक मान्यताओं पर विशेष दार्शनिक सम्प्रदाय भी विवाद खड़ा करते हैं। दूसरी मान्यता के अनुसार वास्तविक जगत हमारी धारणा के अनुकूल हर माने में अच्छा नहीं है। ईश्वरवाद में इस मत का खण्डन किया जाता है क्योंकि सर्वशक्तिमान और पूर्ण रूपेण श्रेष्ठ ईश्वर के बनाए जगत में अपूर्णता नहीं हो सकती। तीसरी मान्यता के अनुसार मनुष्य दो अनिर्धारित वैकल्पिक स्थितियों में से किसी एक को चुन सकने में स्वतन्त्र होता है। संकल्पवाद (determinism) इस मान्यता को भौतिक विज्ञानों से असंगत होने के कारण स्वीकार नहीं करता। विषयसापेक्ष दृष्टि से चौथी मान्यता नैतिक सापेक्षवाद का विरोध करती है और विषयिसापेक्ष दृष्टि से वह मनोविज्ञानीय साहचर्यवाद (psychological associationism) के इस मत का भी विरोध करती है कि मनस् परिवर्तनशील व्यक्तिगत अवस्थाओं की ही राशि है। पाँचवी मान्यता अन्य लोगों के प्रागनुभव मूल्य को मानकर उनकी सत्ता को स्वीकार करती है किंतु निरपेक्ष व्यक्तिसापेक्षवाद (solipsism)[1] में अन्य लोगों के मूल्य को स्वीकार नहीं किया जाता। आधुनिक काल में इन सन्देहात्मक विवादों में तीसरी और चौथी मान्यता के विषयसापेक्ष पक्ष के विवाद ही जागरूक हैं। अन्य लोगों की सत्ता को न मानने वाले लोग तो कम ही हैं किंतु

---

१ यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार व्यक्ति की अपनी सत्ता ही होती है और अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। अन्य व्यक्तियों की सत्ता तभी और उसी समय तक होती है जब तक वे 'मेरी' चेतनता के विषय बने रहते हैं—अनु०।

अनुभववादी (empirical) विज्ञानों की विधि और परिणामों के आधार पर स्वतन्त्र वरण (free choice) और स्थाई नैतिक मापदंडों की सम्भावना पर जब तब विवाद खड़ा हो जाता है। नैतिक सापेक्षवाद पर दूसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ हम मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता के प्रश्न की परीक्षा करेंगे और देखेंगे कि विज्ञानीय प्रगति सारी नैतिक समस्याओं और निश्चयों को भ्रमपूर्ण कहाँ तक ठहरा सकी है।

२. स्वतन्त्र वरण की समस्या

स्वतन्त्र वरण या कम यथार्थता के साथ कही जाने वाली 'इच्छा-स्वातंत्र्य' (free will) की समस्या यह है : क्या मानवी आचरण, जिसमें उसके व्यक्तिगत संचारी भावों (emotions) प्रत्ययों और प्रयत्नों के साथ प्रकट भौतिक पहलू भी होते हैं, पूर्व घटनाओं से पूरी तरह पूर्व निश्चित होता है या मनुष्य चेतनप्राणी होने के नाते, वरण करते समय, अपने कामों का करने वाला स्वयं होता है ? इन दोनों वैकल्पिक पक्षों में दूसरा तार्किक दृष्टि से तीसरी नैतिक मान्यता से समता रखता है। यदि मनुष्य अपने कामों का मूल स्वयं है तो यह स्पष्ट है कि वरण करते समय वह किसी और काम का वरण भी कर सकता था। नैतिक मान्यता के अनुसार यदि वह दो वैकल्पिक पक्षों में वरण कर सकने की क्षमता रखता है तो उसे वरण किए गए पक्ष का कर्त्ता ठहराना ठीक है। देखने में तो स्वतन्त्रतावादी इस सिद्धान्त से कि हम उन्हीं कामों के कर्त्ता हैं जिन्हें हम बिना किसो दबाव के और 'आँख खोल कर' करते हैं इनकार नहीं किया जा सकता किंतु ऊपर से अस्वीकृत न हो सकने वाले बहुत से सत्य परीक्षा करने पर असत्य ठहरते हैं। अतएव हमें उन दलीलों की परीक्षा करनी चाहिए जिन पर (स्वतन्त्र वरण की संभावना स्वीकार करने वाले) स्वतन्त्रतावादियों (libertarians) और (स्वतन्त्र वरण से इनकार करने वाले) संकल्पवादियों (determinists) का झगड़ा है।

संकल्पवाद पर विचार करने से पहले उसकी यथार्थ परिभाषा देना आवश्यक है। संकल्पवाद को (उसके विज्ञानीय रूप में जिसमें कार्य-कारण भाव रहता है) कभी-कभी नियतिवाद (fatalism) समझ लिया जाता है। नियतिवाद विज्ञानीय नहीं होता और उसमें सामान्यतः स्वतंत्र वरण का निरपेक्ष खण्डन भी नहीं होता। नियतिवाद यह स्वीकार करता है कि हम चाहे जो भी वरण करें किंतु कुछ बातें हमारे वरण करने या न करने का परिणाम न होकर पहले से ही नियत होती हैं जिससे स्वतंत्र वरण के साधन सीमित हो जाते हैं। सिसरो ने एक तर्क दिया था : रोगी को वैद्य की जरूरत नहीं है क्योंकि रोगी या तो मर जायगा या अच्छा हो जायगा। यदि वह मर जायगा तो वैद्य का आना बेकार है और यदि वह अच्छा हो जायगा तो भी वैद्य का आना निरर्थक है। यह तर्क नियतिवाद का उदाहरण है, विज्ञानीय संकल्पवाद का नहीं। बहुत से मार्क्सवादियों का आर्थिक संकल्पवाद (economic determinism) भी नियतिवाद है। उनका कहना है कि पूँजीवाद को एक न एक दिन तो अवश्य नष्ट होना है, क्रांतिकारी लोग तो उसको नष्ट करने के निमित्त मात्र हैं और वे एक सीमा के अन्दर ही स्वतन्त्र रूप से काम कर सकते हैं।[1] यह स्पष्ट है कि नियतिवाद में विश्वास करने से व्यक्ति की नैतिक खोज का स्वभाव और नैतिक दायित्व बहुत बदल सकता है किंतु फिर भी नियतिवाद से नैतिक विमर्श निरर्थक नहीं बनता। मेरे सामने ऐतिहासिक

१—"बोलशेविकों के नारे और विचार सामान्यतः पूरी तरह से दृढ़ हैं किन्तु यथातथ दृष्टि से घटनाओं ने उनकी आशाओं के विपरीत रूप धारण किया है।"—लेनिन, ट्राटस्की द्वारा उद्धृत, दि हिस्टरी आव् दि रशन रेवोल्यूशन, जि० १, पृ० ४७७

गीता का दृष्टिकोण भी नियतिवादी है। कृष्ण ने अर्जुन को ऐतिहासिक गतिविधि में 'निमित्त मात्र' ही बनने की शिक्षा दी है—अनु०।

गतिविधि में निमित्त बनने या न बनने का वरण फिर भी रहता है। विज्ञानीय (या कार्य-कारण सम्मत) संकल्पवाद के अनुसार हर गतिविधि या व्यापार का कारण और कार्य उस व्यपार की भाँति ही दृढ़ता से पूर्व-निर्धारित होता है। उसमें वरण कर सकने का तो कहीं स्थान ही नहीं होता। वह व्यापार किसी लक्ष्य (telos) से निर्धारित न होकर अपनी पूर्वगत घटनाओं से निर्धारित होता है। संकल्पवाद का यह रूप तार्किक दृष्टि से तीसरी मान्यता का खण्डन करता है।

संकल्पवादी पक्ष की युक्तियाँ

(१) संकल्पवाद के समर्थन के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी गई हैं। पहली कारणात्मक सम्बन्धों की खोज और कारणात्मक व्याख्या से विज्ञान की उन्नति पर आधारित आगमनात्मक युक्ति है। विज्ञान बादल गरजने और पानी बरसने का कारण इन्द्र के क्रोध और देवताओं के स्नान करने को न मानकर भूगोल के कुछ निश्चित कारणों में मानता है। मानवी मामलों में वैसी निश्चितता अब तक नहीं मिल सकी है किंतु इसमें क्या हमारा अज्ञान नहीं हो सकता? विज्ञानीय उन्नति को देखते हुए क्या यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि एक न एक दिन सभी घटनाओं का कारण मालूम हो सकेगा और उनकी कारणात्मक व्याख्या सम्भव हो सकेगी? पहले की सारी घटनाओं को पूरी तरह जानने वाला कोई दिव्य वैज्ञानिक, यदि वह हो, क्या भविष्य के बारे में ठीक ठीक नहीं बता सकता? इस संभावना को मान लेना भविष्य को पूर्वनिर्धारित, अटल और अपरिवर्तनीय स्वीकार कर लेना है। भविष्य को पूर्व निर्धारित मान लेने पर नैतिक कर्त्ता के सामने वरण कर सकने का कोई मार्ग नहीं रह जाता। इस दृष्टिकोण से नैतिक विमर्श और नैतिक निश्चय घटनाओं की परछाईं बन जाते हैं, घटनाओं का सृजन करने वाले नहीं।

किंतु विज्ञान की उन्नति पर आधारित संकल्पवाद की यह आगमनात्मक युक्ति दोषपूर्ण है। विज्ञान ने अपनी खोज विषयक सामग्री की जटिलता अवश्य बढ़ा ली है किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो पाता कि

विज्ञान एकतामय ज्ञान के किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। यह अनुमान तभी संभव हो सकता है जब ज्ञान की सामग्री का परिमाण और प्रकार सीमित हों। विश्व में तथ्यों की किसी सीमा को मानना और यह कहना कि विज्ञान धीरे धीरे उस सीमा के अन्दर सारे तथ्यों में अन्योन्याश्रित कारण सम्बन्ध की खोज कर रहा है विश्व का सही चित्रण नहीं है। ज्ञान की कोई मर्यादा नहीं है, उसमें उतनी ही अनेकता और विभिन्नता है जितनी लोगों के अनुभवों और कल्पनाओं में है—चाहे वे अनुभव और कल्पनाएँ वैज्ञानिकों की हों या कवियों की या रहस्यवादी धर्म परायण लोगों की। विज्ञान के हर नियम की खोज के साथ अन्य असीमित तथ्यों के अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त होता जाता है। नए उत्तरों से और भी नए और जटिल प्रश्न उठते जाते हैं और उनका अन्त नज़र नहीं आता। इस प्रकार एकतामय ज्ञान का लक्ष्य बराबर पीछे हटता रहता है और उस तक कभी पहुँच पाने की संभावना के लिए कोई आगमनात्मक प्रमाण नहीं है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि कारणात्मक संकल्पवाद के लिए कोई आगमनात्मक प्रमाण नहीं है।

(२) दूसरी स्वयंसिद्धता पर आधारित प्रागनुभव (a priori) युक्ति है। यह ठीक है कि भाव की उत्पत्ति भाव से ही हो सकती है। हरेक चीज का एक आदि-बिन्दु होता है जो उसकी व्याख्या का सिद्धान्त और उस चीज के 'होने' का सिद्धान्त या कारण भी होता है। किसी कारण-रहित प्रारम्भ की धारणा नहीं की जा सकती! इस स्वयंसिद्धता को कभी कभी न्याय-वाक्य (syllogism) द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। जिस वस्तु का प्रारम्भ हुआ है उसका कोई कारण भी होना चाहिए, नहीं तो वह वस्तु अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होगी। किंतु अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होने के लिए उस वस्तु की अपने प्रारम्भ (कार्य) से पहले सत्ता (कारण) होना चाहिये जो असंभव है; इसलिए हर वस्तु के प्रारंभ का कारण उस वस्तु से अलग किसी और वस्तु को ही होना चाहिए।

प्रागनुभव युक्ति को चाहे जैसे व्यक्त किया जाय किंतु तार्किक दृष्टि से उसमें बाध्यता नहीं होती। अपने सन्तोष के लिए स्वयंसिद्धता का सहारा लिया जा सकता है किंतु उसमें सन्देह करने वाले विपक्षी के सन्तोष के लिए तार्किक दबाव नहीं होता। स्वयंसिद्धता का आधार तर्कशास्त्र में न होकर मनोविज्ञान में है, यह और बात है कि उसके सफल होने पर नई तर्किक युक्तियों का निर्माण किया जा सके। उपर्युक्त न्याय वाक्य द्वारा व्यक्त युक्ति में चक्रक दोष है। उसमें जो सिद्ध करना है उसे पहले से ही मान लिया गया है। प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना चाहिये, नहीं तो वह अपनी उत्पत्ति का कारण स्वयं होगी : इस युक्ति में छिपे तौर से यह कहा गया है कि (१) हर वस्तु का कारण होना चाहिए (२) और यह कारण या तो अपने कार्य से तादात्म्य रक्खेगा या नहीं रक्खेगा। स्पष्ट है कि यहाँ जो सिद्ध करना है उसे पहले से ही मान लिया गया है।

(३) अब संकल्पवाद की प्रामाण्यवादी (epistemological) युक्ति रह जाती है। प्रामाण्यवाद दर्शन शास्त्र की वह शाखा है जिसमें ज्ञान के स्वभाव और ज्ञेय वस्तुओं की विशेषता की खोज की जाती है। कांट जिसने आधुनिक प्रामाण्यवादी खोज की नींव डाली थी कारण को ज्ञेय वस्तु की सार्वभौम विशेषता बतलाता था। हम किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक जान सकने की क्षमता नहीं रखते; ज्ञान की क्रिया ज्ञेय वस्तु का अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध जानने पर ही सम्भव होती है। कोई वस्तु अपने कारण सम्बन्ध द्वारा ही ज्ञेय बनती है। कार्य-कारण प्रसंग के बाहर वस्तुएँ ज्ञेय नहीं बनतीं। उनका कार्य कारण सम्बन्ध ज्ञात हो सकता है, या उसका अनुमान किया जा सकता है, या उसको मान लिया जाता है। कारण के बिना 'क्यों ?' प्रश्न सार्थक नहीं रहता। ज्ञान मनस् की क्रिया के बिना नहीं हो सकता और मनस की क्रिया में कोई वस्तु ज्ञेय तभी बन पाती है जब उसका दूसरी वस्तुओं से कारण सम्बन्ध पता चल जाय। मानवी ज्ञान का यही सार्वभौम लक्षण विज्ञान को सम्भव बनाता है। हमें चाहे किसी वस्तु का कारण न मालूम हो किन्तु कारण में

विश्वास रखने से ही हम उस वस्तु का कारण जानने की चेष्टा करते हैं।

कांट की युक्ति कारण के अर्थ पर आलोचनात्मक प्रवृत्ति रखने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। यह प्रागनुभव युक्ति का एक संशोधित रूप है। ज्ञेय बन सकने के लिए वस्तुओं में आवश्यक रूप से कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए, चाहे वस्तुओं की अपनी विशेषताएँ कुछ भी क्यों न हो। अपनी पुस्तक "ए ट्रीटिस आव ह्यूमन नेचर" में ह्यूम ने कहा था कि हर वस्तु का कारण मानने से हम यह भी मान लेते हैं कि वह वस्तु किसी अन्य वस्तु से अनिवार्यतः अनुसारित होती है। चूँकि हम अपने अनुभवों को ही जान सकते हैं और अनिवार्यता अनुभवगत नहीं है इसलिये हम वस्तुओं का अनिवार्य सम्बन्ध कभी नहीं जान सकते। ह्यूम इससे एक सन्देहात्मक निष्कर्ष पर पहुँचा। जहाँ तक वस्तुओं के स्वलक्षण का प्रश्न है वहाँ तक कांट ने ह्यूम के सन्देहवाद को स्वीकार किया किंतु उसने ह्यूम को यह चुनौती दी कि वस्तुओं के स्वभाव और उनके कारण सम्बन्ध पर वाद विवाद करना उनके स्वलक्षण पर विचार करना नहीं है। अनुभव से हम किसी वस्तु को वाह्य जगत से ग्रहण मात्र ही नहीं करते; अनुभव सक्रिय होता है और ग्रहण की हुई वस्तु को सार्थक और सविशेष बनाता है। ज्ञान होने पर, कांट की युक्ति है, ज्ञेय पदार्थ में एक प्रागनुभव तत्व (a priori element) आ जाता है जो ज्ञान की क्रिया के समय ज्ञाता से मिलता है और जिसे हम वाह्य जगत कहते हैं उसे ज्ञेय होने के नाते अपना अनुभव करने वाले मनस् की सामान्य विशेषताओं के अनुरूप होना चाहिये।

कांट का मुख्य दोष उसकी कट्टर मनोविज्ञानीय मान्यताओं में है। कांट स्वयं विश्वास करता था कि उसकी खोज का विषय मनोविज्ञान के क्षेत्र में आने वाली अनुभवगत सामग्री नहीं है, किंतु फिर भी उसने मनोविज्ञानीय क्षेत्र में एक मान्यता मानी है। जब वह कहता है कि "बुद्धि का अपना नियम होता है" तब वह यह मान लेता है (जो 'क्रीटीक' के बाद के पृष्ठों में बहुत स्पष्ट है) कि सब लोगों की बुद्धि

अपने स्वभाव के कारण उस 'नियम' को मानने पर बाध्य है, और सब लोगों की बुद्धि कार्यकारण सम्बन्ध के बिना किसी वस्तु को ज्ञेय नहीं बना सकती। किंतु यह मनोविज्ञानीय मान्यता एक तथ्य विषयक मान्यता है[1] जिसका सच होना या न होना प्रमाण मिलने पर ही निर्धारित किया जा सकता है। प्रमाण से तो यही पता चलता है कि यद्यपि सब लोग एक हद तक कारण-प्रसंग में ही चिंतन करते हैं किंतु कुछ लोगों को कारण रहित किसी वस्तु या घटना के हो सकने की संभावना में कोई कठिनाई नहीं होती। अरस्तू, एपीक्यूरस, ह्यूम, रेनोवीर, बर्गसों, जेम्स और ह्वाइटहेड ऐसी संभावना सोच सकते थे; स्टोइक लोग, देकार्त के अनुयायी, बार्कले और कांट नहीं। कारणात्मक संकल्पवाद (Causal determinism) के प्रति जब इन मनोविज्ञानीय व्यक्तिगत अन्तरों को मान लिया जाता है तो प्रामाण्यवादी युक्ति से कोई निरपेक्ष निष्कर्ष नहीं निकलता : हम यही कह सकते हैं कि जो लोग कारण-प्रसंग के बिना वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर सकते उनके लिए कारण सम्बन्ध हरेक वस्तु की सार्वभौम विशेषता है और कारणात्मक संकल्पवाद उन्हीं के लिए अनिवार्यतः सत्य है।

कारणात्मक संकल्पवाद के लिए प्रामाण्यवादी युक्ति का एक संशोधित रूप लगने वाली युक्ति एक आधुनिक दार्शनिक ने यों दी है :

> यदि एकरूपता (uniformity) को केवल आंशिकतः ही स्वीकार किया जाय तो मेरी दृष्टि में हम अपने दैनिक कामों

---

१ एक भेद करना आवश्यक है। यदि मनोविज्ञानीय मान्यता सही हो तो 'हर घटना का पर्याप्त कारण होता है' यह प्रतिज्ञा कांट के अनुसार प्रागनुभव प्रतिज्ञा हो जायगी। किंतु मनोविज्ञानीय मान्यता (कि कारण के बिना किसी पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता की धारणा नहीं की जा सकती) स्वयं मानवी मानसिक प्रवृत्तियों का वर्णन है और इसलिए वह प्रागनुभव न होकर 'वर्णनात्मक' या 'तथ्यगत' ही है।

को उस बौद्धिक विश्वास के साथ नहीं कर सकते जिसका लाभ हम अपनी आवश्यकताओं और प्रयोजनों में उठाते हैं। इस नई मान्यता के अनुसार हमारे तथ्यों में एक अनिश्चितता और विच्छृङ्खलता आ जायगी। एक हद तक किसी समय कुछ भी घट सकने की संभावना हो जायगी......अनुभव की आधारभूत तार्किकता का विरोध करने पर हमें प्रकृति के अत्यन्त बेतुकेपन पर, गाय के चाँद पर कूदने पर, ऊँट के सुई की नोंक से निकल जाने आदि पर आश्चर्य करने का कोई अधिकार नहीं रहता।[1]

इस अवतरण की लेखिका कांट के इस दोष को बचा गई है कि प्रकृति की एकरूपता में कोई व्यक्ति सन्देह नहीं कर सकता। लेखिका ने कारणात्मक एकरूपता (Causal uniformity)[2] को चिंतन का अनिवार्य गुण न मानते हुए यही स्वीकार किया है कि यदि भविष्य की घटनाएँ किसी विषयसापेक्ष मापदंड द्वारा संचालित होती हैं तो कारणात्मक एकरूपता अनिवार्य है। उससे इनकार करने पर सामञ्जस्य की जगह विच्छृङ्खलता की ही आशा करना चाहिए।

इस युक्ति पर मुख्य आपत्ति यही हो सकती है कि इसमें एक अपूर्ण पृथकता है। इस युक्ति में यह माना गया है कि या तो हर वस्तु को कारण नियम से पूर्वनिर्धारित होना चाहिए या फिर भविष्य के बारे में कोई सार्थक बात नहीं कही जा सकती; दूसरे शब्दों में या तो कोई घटना संयोगवश नहीं होती और या घटनाएँ संयोगाश्रित ही होती हैं। कारणा-

---

१ मेरी कोलिन्स स्वाबी, लॉजिक एंड नेचर, पृ० ७५-७६ (न्यूयार्क यूनिवर्सिटी प्रेस)

२ कारणात्मक एकरूपता का अर्थ यह है कि कारण के एक निश्चित परिमाण से हर समय कार्य का एक निश्चित परिमाण उत्पन्न होना चाहिए और कार्य के किसी निश्चित परिमाण को सदा उसी निश्चित परिमाण के कारण का परिणाम होना चाहिए।

त्मक संकल्पवादी इस युक्ति के पहले पक्ष को मानते हैं क्योंकि दूसरे पक्ष को नहीं माना जा सकता। किंतु इन दोनों पक्षों के बीच के मार्ग को भी स्वीकार किया जा सकता है और अरस्तू, रीड, कूर्नो, ह्वाइटहेड आदि प्रभृत दार्शनिकों ने ऐसा ही किया है। कारण में विश्वास न करने पर भी पूर्वकथन कर सकने की उपपद्यता (Probability) रहती है। घटनाएँ यदि एक बड़ी संख्या में अनुमानित पूर्वकथनीयता के अनुसार हो सकती हैं तो उपपद्यता के आधार पर विज्ञान का निर्माण किया जा सकता है; और हर अनुभवाश्रित विज्ञान उपपद्य विज्ञान ही है।

अनिर्धार्यवाद और विज्ञान की मान्यताएँ

कारणात्मक अनिर्धार्यवाद (causal indeterminism) तार्किक दृष्टि से कारणात्मक संकल्पवाद का प्रतियोगी है। अनिर्धार्यवाद के अनुसार विश्व में कुछ घटनाएँ संयोगवश होती रहती हैं। इस मत को एक सीमा तक ही गम्भीरता से स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृतिक एकरूपता के ऊपर आधारित विज्ञानीय ज्ञान इस बात का प्रमाण है कि सब घटनाएँ संयोगाश्रित नहीं होतीं। शायद हम यह भी कह सकते हैं कि कोई घटना पूरी तरह से संयोगाश्रित नहीं होती। अनिर्धार्यवाद इतना ही मान सकता है कि कुछ घटनाओं के कुछ पहलू संयोगवश हो सकते हैं। अरस्तू विश्व में संयोग की उपस्थिति को इसी अर्थ में मानता था। वह कहता है कि "हर घटना की न केवल घटित होने के समय और उसके 'होने' की वरन् उसके गुणात्मक परिवर्तनों की भी जिसमें से अनेक एक साथ ही घटित हो सकते हैं व्याख्या करने के लिए किसी सिद्धान्त को मानना अनर्गल है।"[1]

पहले के अवतरण में कारणात्मक संकल्पवाद के खण्डन में दिए गए तार्किक और विज्ञानीय 'प्रमाण' अनिर्धार्यवाद की प्रागनुभव संभावना

---

१ फ़िज़िक्स, पु० १, अ० ३

को ही स्थापित करते हैं। प्रागनुभव प्रदर्शन द्वारा किसी घटना की असम्भावना का खण्डन करके उसकी सम्भावना ही स्थापित की जा सकती है, उसकी वास्तविकता नहीं। निरपेक्ष अनिवार्यता या निरपेक्ष असम्भावना को स्वीकार करना द्वन्दात्मक तरीके से खण्डित की जा सकने वाली एक रूढ़ प्रवृत्ति है। संभावना को स्वीकार करना रूढ़ नहीं है। किसी घटना का किसी और तरह से हो सकना स्वीकार करना बौद्धिक प्रवृत्ति है। गाय चाँद पर कूद सकती है, ऊँट सुई की नोंक से निकल सकता है किंतु ऐसा होना बहुत ही असंभव है। जब तक हर बात की उपपद्यता की परीक्षा न कर ली जाय उसको संभाव्य मानने मात्र से ही ज्ञान तक नहीं पहुँचा जा सकता।

क्या विज्ञान कारणात्मक संकल्पवाद की उपपद्यता स्थापित करता है? केवल एक बहुत विशिष्ट अर्थ में ही। विज्ञानीय प्रणाली में किसी सामान्य नियम द्वारा एक विशिष्ट बात को अन्य विशिष्ट बातों से सम्बन्धित किया जाता है। भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान और रसायन में प्रयुक्त होने वाला यह आदर्श उनको अमूर्त (abstract) बना देता है और वे मानवी अनुभव से दूर हो जाते हैं। विज्ञान की मान्यता किसी तथ्य का विवरण नहीं होती, वह केवल खोज विषयक होती है जिससे आगे खोज करने की उत्तेजना मिलती है। एक विशिष्ट बात को दूसरी विशिष्ट बात से सामान्य नियम द्वारा सम्बन्धित करने की व्यावहारिक आवश्यकता से अपचयित न हो सकने वाले विज्ञान हर विशिष्ट बात के मूर्त (concrete) और परिचित अर्थ को नष्ट कर देते हैं।

स्वतंत्र वरण का समर्थन

विश्व के पूरी तरह पूर्वनिर्धारित न हो सकने की सम्भावना चेतन प्राणियों के स्वतंत्र वरण कर सकने को मानने वाले स्वतंत्रतावाद के प्रति प्रागनुभव आपत्ति का निराकरण कर देती है। स्वतंत्र वरण के लिए द्वन्दात्मक प्रमाण नहीं दिया जा सकता; वह गम्भीर नैतिक स्थिति में पड़ने पर ही हाथ आता है। स्वतंत्र वरण बहुत हद तक विश्वास करने की

इच्छा पर निर्भर होता है। विलियम जेम्स का कहना था कि "इच्छा-स्वातंत्र्य का मेरा पहला काम इच्छा-स्वातंत्र्य में विश्वास करना होगा।"[१] इच्छा-स्वातंत्र्य (free will) में विश्वास करना वरणीय विकल्पों की नैतिक माँग को वर्णन करने का सबसे अच्छा व्यावहारिक ढंग है। स्वतन्त्रता में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपने कर्मों से आगे ज्यादा स्वतन्त्रता पा सकता है जो उसे विश्वास न करने पर नहीं मिल सकती। होने-वाले नैतिक कर्त्ता के लिए यह एक अच्छी काम चलाऊ मान्यता है। वरण की स्वतन्त्रता का सबसे पक्का प्रमाण यही है कि मनुष्य उसमें विश्वास रखकर दैनिक कर्मों में उसका समर्थन करता है।

३ आदर्श और विश्वास

नैतिक चिंतन में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से निहित और हर नैतिक सिद्धान्त द्वारा पहले से ही मान ली जाने वाली नैतिक मान्यताओं के अतिरिक्त नीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विश्वास भी होते हैं। उनमें से सबसे प्रमुख ईश्वर और इतिहास के किसी सार्थक प्रतिरूप (pattern) में विश्वास रखना है। इन विश्वासों की नैतिक सिद्धान्तों में कोई द्वन्दात्मक अनिवार्यता नहीं है। नास्तिक होने और अच्छा जीवन बिताने या ऐतिहासिक निराशावादी होने और अच्छा जीवन बिताने में कोई तार्किक बाध नहीं है। उनकी प्रतिद्वन्दिता सामान्य दृष्टिकोण का परिणाम होती है जो कुछ विचारकों में औरों से अधिक होती है। फिर भी मूल्यों और विश्व में मूल्यों के परम स्थान में मनुष्यों की रुचि उनकी बौद्धिक उत्सुकता से मिलकर ईश्वर और मनुष्य के भाग्य इन प्रश्नों को बड़ा महत्वपूर्ण बना देती है।

ईश्वर में विश्वास

ईश्वर की सत्ता विषयक किसी भी प्रमाण में तार्किक बाध्यता नहीं

---

१ पत्र, जि० १, पृ० १४७

है। पक्की सन्देहवादी प्रवृत्ति रखने वाले मनुष्य को ईश्वर की सत्ता का कोई भी प्रमाण सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यह प्रश्न दो बौद्धिक सिद्धान्तों का न होकर विश्व के प्रति एक साथ ही बौद्धिक और संचारी भावात्मक दो नितान्त विरोधी प्रवृत्तियों का है। एक ओर फोन हिगेल द्वारा अभिव्यक्त प्रवृत्ति है :

> ईश्वर में विश्वास करना कितना सुखकर, कितना आनन्ददायक होता है, ऐसे ईश्वर में जिसका निर्माण मनुष्य के चिंतन मात्र से नहीं होता, जो किसी सिद्धान्त या मान्यता का हस्तलाघव नहीं होता, जो किसी जाति विशेष हिन्दू, मुसलमान या ईसाई का नहीं होता। वह हमारे चारों ओर फैली वायु से, फूलों के पराग से, उड़ती हुई चिड़ियों से कहीं असीम रूप में वास्तविक होता है। हमारे जीवन के कष्ट और कठिनाइयाँ और छोटी-छोटी आवश्यकताएँ ऐसे प्राणियों से उत्तेजित और समृद्ध होती रहती हैं जो हमसे बिल्कुल विभिन्न होते हैं और जो हमारे चारों ओर सदा रहते हैं। हमें जगत की समृद्धि और विभिन्नता का ही यकीन नहीं होता वरन् इस सारी विभिन्नता के पीछे उस सर्वोपरि, एक और सामञ्जस्यपूर्ण, दृढ़ और स्वरत ईश्वर का यकीन होता है जो एकमात्र सत्य है।[1]

इन शब्दों में ऐसे मनुष्य की आस्था की अभिव्यक्ति है जिसके लिए धर्म सिद्धान्त मात्र न होकर जीवनयापन की एक विधि है और जिसकी नैतिक चेतनता विश्व की उस चेतनता से एकाकार है जिसका वह अंश है। इस प्रवृत्ति के विरोध में उमर ख़ैय्याम की एक रुबाई में अभिव्यक्त यह अनिश्चयवाद (agnosticism) है :

---

[1] एवेलिन अंडर दिल द्वारा अपने निबन्ध में उद्धृत, 'फाइनाइट एंड इनफाइनाइट', दि क्राइटीरियन, जनवरी १९३२

अरे आया क्यों जग के बीच ! कहाँ से तृण-सा मुझको तोड़,
बहा लाई है कोई धार, गई जो जगती-तट पर छोड़;
जगत क्यों देना होगा छोड़ ! कहाँ को, रज कण मुझको जान,
उड़ा ले जायगा दिन एक किसी मरु का पवमान महान्[1] ।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने इस अनिश्चयवाद को अधिक प्रबन्धात्मक ढंग से वर्णित किया है :

> मनुष्य उन कारणों से उत्पन्न होता है जिन्हें अपने प्राप्त कर सकने वाले लक्ष्य का पूर्वज्ञान नहीं होता; मनुष्य का उद्भव, उसकी वृद्धि, उसकी आशाएँ, उसके प्रेम और उसके विश्वास परमाणुओं के स्कन्ध के आकस्मिक परिणाम ही होते हैं; कोई आग, कोई वीरता, चिंतन और अनुभूति की कोई तीव्रता मनुष्य के जीवन की कब्र में जाने के बाद रक्षा नहीं कर सकती; शतियों की मेहनत, सारी भक्ति, सारी प्रेरणाएँ, मध्याह्न की तरह चमकदार सारी मानवी प्रतिभा सौर मंडल की भीमकाय मृत्यु के गाल में विलीन हो जायगी और मनुष्य की सफलता और सम्प्राप्ति का पूरा मन्दिर भाग्यवश विश्व के भग्नावशेष में सो जायगा—इन बातों पर चाहे वाद विवाद हो सके किंतु वे इतनी निश्चित सी हैं कि उनको अस्वीकार करने वाले दर्शन को बालू की भीत पर खड़ा समझना चाहिए। सत्य की केवल इन्हीं सीमाओं के अन्दर, निराशा की केवल दृढ़ नींव पर ही आत्मा के रहने की सुरक्षित जगह बनाई जा सकती है ।[2]

जगत-विषयक इन दो विरोधी आस्थाओं पर दर्शन का क्या कहना है ? इसका उत्तर द्विपक्षी है। निषेधात्मक पक्ष में द्वन्दात्मक होने के नाते

---

१ बच्चन कृत अनुवाद ।

२ बर्ट्रेन्ड रसेल, मिस्टीसिज़्म एंड लॉजिक, तृतीय निबन्ध, ए फ्री मैन्स वर्शिप

दर्शन का काम सत्य के लक्षण बताने वाले प्रमाणों को स्थापित करना नहीं है, वरन् सत्य के प्रति किसी भावात्मक, रूढ़ दृष्टिकोण की सीमाएँ बताना है। ईश्वर की सत्ता द्वन्दात्मक तरीके से सिद्ध नहीं की जा सकती किन्तु उसकी असत्ता का द्वन्दात्मक खण्डन किया जा सकता है। विज्ञानों के स्वभाव और प्रणाली की परीक्षा करने पर हमें यह पता चल जाता है कि यदि ईश्वर की सत्ता हो भी तो विज्ञान अपने स्वभाव और प्रणाली के कारण उसकी सत्ता का प्रमाण दे सकने में असमर्थ रहेगा।

इसको एक मानवी साधर्म्य से स्पष्ट किया जा सकता है। लोगों को कभी-कभी चेतन अनुभूति होती है इसलिए चेतन अनुभूति की सत्ता होती है और उसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। किंतु विज्ञान के लिए यह चेतन अनुभूति विज्ञानीय प्रणाली के क्षेत्र में अन्तर्गत न आ सकने के कारण खोज का विषय नहीं है। विज्ञानीय प्रणाली का उपयोजन मनोविज्ञान में करने से आचरणवाद (behaviourism) में चेतन अनुभूति की सत्ता नहीं मानी जाती। जानने के हर साधन की भाँति विज्ञान भी अपनी मान्यताओं के अनुसार अपना विषय चुनता है। विज्ञान के विषय को विषयसापेक्ष और सार्वजनिक होना चाहिए। ईश्वर की सत्ता की अनुभूति घास की हरियाली और बादलों के गर्जन की भाँति सार्वजनिक नहीं है और प्रयोगशाला में उसकी परीक्षा नहीं हो सकती। विज्ञानीय मनोविज्ञान भी जब मनुष्य की धार्मिकता का अध्ययन करता है तो वह भी उसके बाह्य आचरण में व्यक्त होने वाले मनोभौतिक सार्वजनिक पक्षों पर ही विचार करता है। विज्ञान संयम और साधना से प्राप्त होने वाले धार्मिक सत्य ज्ञान की उपेक्षा करता है क्योंकि वे सार्वजनिक नहीं होते और विज्ञान के लिए सार्वजनिकता वास्तविकता और सत्य की एक आवश्यक शर्त हैं। विज्ञान उसी बात को सत्य मानता है जिसकी (१) सब लोग परीक्षा कर सकें और जो (२) विज्ञान के सार्वजनिक क्षेत्र के अन्दर आ सके।

व्यावहारिक सफलता के कारण अनुभवाश्रित विज्ञान की इस मान्यता

को स्वीकार किया जा सकता है किंतु उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मानने में कोई तार्किक बाध नहीं है कि सत्य अपना स्वरूप कुछ चुने हुए लोगों पर ही प्रकट करता है। सत्य का यह दृष्टिकोण आज के प्रचलित सत्य के दृष्टिकोण से बहुत पुराना है।

एक आख्यायिका

जगत से असम्बद्ध एक द्वीप पर मनुष्यों का एक ऐसा समाज रहता था जो किसी समय संगीत के बड़े प्रेमी रहे थे किन्तु कुछ कारणवश धीरे-धीरे सुनने की शक्ति खो बैठे थे। हफ्ते में एक दिन अपने बनाये मन्दिरों में जाकर संगीत सुधा का पान करना उनके जीवन की एक आवश्यक चर्या थी। संगीत उनके लिये पूजा की भाँति था और उनके मानवी अनुभव का बड़ा उन्नत रूप था। सुनने की शक्ति के क्षीण हो जाने पर भी संगीत समारोह के प्रति पड़ी हुई उनकी आदतों में कोई अन्तर नहीं आया था। रूढ़िवादी लोग मन्दिरों में जाकर अपनी परम्परा को निभाते और गाते रहे यद्यपि अब संगीत के स्वर उनको सुनाई नहीं पड़ते थे। बाद की पीढ़ियाँ उनके इस निरुद्देश्य अन्ध-विश्वास के प्रति सशंक होकर उसका विरोध करने लगीं। उन्होंने इस निरर्थक प्रथा को तोड़ने की दिशा में कदम उठाया और बहुत से लोग उनके अनुयायी बन गये। कुछ लोग निष्क्रिय रूप से तटस्थ बने रहे। अब मन्दिरों में वही लोग जाते थे जो या तो बुद्धि कम रखने के कारण पुरानी प्रथा को अपनाये हुये थे या जिनकी रोज़ी उसी प्रथा से चलती थी या जो लोग अब भी थोड़ा बहुत सुन सकते थे। ऐसे लोगों को रहस्यवादी कहा जाने लगा और उनका मज़ाक उड़ाया जाने लगा। मनोवैज्ञानिकों ने उनके भ्रम के कारणों का उद्घाटन करने में सिद्धान्त पर सिद्धान्त बना डाले। प्रजातंत्रीय भावनाओं के कारण लोगों ने रहस्यवादियों का बध न करके उन्हें उस अन्धविश्वास का प्रतीक समझ कर

रहने दिया जिससे सारे नागरिक बच गये थे। इन सब बातों को सामाजिक और बौद्धिक उन्नति का प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया। कोई-कोई संगीत प्रेमी वाद विवाद करते समय अब भी यह कह देता था: "हम लोग धोखे में नहीं हैं, धोखे में तुम हो जो बहरे हो![1]

आख्यायिकाएँ कुछ सिद्ध नहीं करतीं किन्तु वे भूली हुई संभावनाओं को याद दिला सकती हैं। मनुष्य, इतिहास और प्रकृति की ऐहिक (secular) व्याख्या मनुष्य के अनुभवों से मेल नहीं खाती। ऐहिकता शायद तथ्यों के कुछ प्रकारों को अस्वीकार करने की अभिव्यक्ति है। सबसे मौलिक तथ्य धार्मिक तथ्य है जिसके अनुसार हमारे अन्दर व्यक्तिगत और सामूहिक अन्तर्प्रेरणाओं और स्वार्थों के अतिरिक्त नैतिकता की एक ऊँची आवाज़ की भी प्रामाणिक सत्ता होती है जिसका निनाद हमारे सद्सद्विवेक, हमारी समर्पित प्रतिभा और जीवन परम्परा के प्रवाह में होता रहता है। इस तरह से मनुष्य को कुछ प्रामाणिक मापदंड मिलते रहते हैं, चाहे वे क्षणिक या अस्पष्ट क्यों न हों किन्तु जहाँ तक उनका आशय स्पष्ट होता है वहाँ तक वे विषयसापेक्ष रूप से प्रामाणिक होते हैं। सद्सद्विवेक में, जब उसे विमर्शात्मक रूप से सुना जाय, क्या प्रामाणिकता नहीं होती? मानवी दुर्बलतावश हम कोई ग़लत काम कर सकते हैं किन्तु हमारे अन्दर का साक्षी हमारे काम की गलती को देखता रहता है। क्या सद्सद्विवेक मानवी उपज ही है और फिर भी प्रामाणिक हैं? क्या चेतनता की सत्ता का क्षण विषयसापेक्ष रूप से सम्बन्धित न होकर व्यक्तिगत संचारी भावात्मक अवस्था की तीव्रता मात्र ही होता है? प्रस्तुत पुस्तक के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से इस शंका का वर्णन ही किया जा सकता है, उसका समाधान नहीं। उसका समाधान मनुष्यों के विस्तारशील अनुभव, गहरी

१. 'दि फेल्योर आव् नेचुरैलिज़्म' नामक मेरे लेख से पुनर्मुद्रित, 'दि केनयन रिव्यू', १९४१।

होती रहने वाली अन्तर्दृष्टि और स्पष्ट चिंतन में अविच्छिन्नता के साथ होता रहता है। उस समाधान के एक वैकल्पिक पक्ष के रूप में यहाँ यही कहा जा सकता है कि मनुष्य की आध्यात्मिक अनुभूति उसके मानसिक जीवन के साथ प्रारम्भ और समाप्त हो जाने वाला विषयसापेक्ष भ्रम न हो कर किसी दिव्य शक्ति से उसके मौलिक सम्बन्ध का प्रमाण है।

क्या इतिहास का कोई प्रतिरूप होता है ?

नैतिक दर्शन और नैतिक निर्णय से सम्बन्धित एक दूसरा अतिशय विश्वास इतिहास के रूप का है। मनुष्यों के सामूहिक और प्रायः विप्रतिकारी वरण करने का क्या नतीजा होता है ? इतिहास की गतिविधि में क्या कोई प्रतिरूप (pattern) होता है ?

इस प्रश्न का पिछली दो शतियों से मान्य उत्तर ऐतिहासिक उन्नति के सिद्धान्त में है। पुरानी पीढ़ियों के नैतिक प्रयत्नों के कारण मानव जाति आदिम काल से उन्नति की उस अवस्था तक आ चुकी है जिसमें हम रह रहे हैं और हमारे आज के नैतिक प्रयत्नों से भविष्य में मानव जाति को उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी। इस विश्वास के अनेक रूप हैं। पूँजीवाद की हामी भरने वाले भविष्य में प्राकृतिक साधनों के असीमित विकास की भविष्यवाणी करते हैं जिससे मनुष्य की आर्थिक समृद्धि बढ़ जायगी; मध्यम मार्ग पर चलने वाले उदारवादी शिक्षा की विज्ञानीय प्रणालियों द्वारा मनुष्य की सामाजिक बौद्धिकता और संस्थाओं के क्रमिक विकास का स्वप्न देखते हैं और साम्यवादी एक सुखद भविष्य की आशा के लिए वर्तमान तानाशाही को समयोचित सिद्ध करते हैं। भाववाद (Positivism) का जन्मदाता आगस्त कोंते ऐतिहासिक उन्नति को अन्धविश्वास और जीवन की धार्मिक धारणा से विमुख प्रयोगात्मक विज्ञान के एक ऐसे युग की ओर उन्मुख मानता था जिसमें विश्वबन्धुत्व होगा। ज्ञातावादी (idealistic) दार्शनिक ऐतिहासिक उन्नति को आध्यात्मिक आन्दोलन की वाह्य अभिव्यक्ति या किसी दिव्य योजना की

पूर्ति मानते हैं। हेगेल ऐतिहासिक उन्नति को काल में अनपेक्ष (Absolute) का अनावृत होना समझता था। इन विभिन्न सिद्धान्तों के तात्विक आधार कुछ भी हों किंतु वे ऐतिहासिक उन्नति को 'सदा आगे और ऊपर की ओर' मानते हैं। सामयिक अधःपतन होते रहने पर भी अन्त में सभ्यता की वृद्धि की जीत होना निश्चित है।

उन्नति का सिद्धान्त आधुनिक युग के यांत्रिक विस्तार से और भी न्यायसंगत बन सका है। परिमाणात्मक सम्प्राप्ति की दृष्टि से हमारी सभ्यता अन्य सभ्यताओं से श्रेष्ठ ठहरती है। आज हमारे पास असंख्यक साधन हैं और यदि इस बात की उपेक्षा कर दी जाय कि उन्होंने मानवी जीवन पर कैसा असर डाला है तो हम उन पर अभिमान कर सकते हैं। असंख्य यांत्रिक साधन मनुष्य को उथले और सतही सुखों में उलझाए हुए हैं और वह आत्मा के गम्भीर और कठिन सुखों से दूर होता जा रहा है।

किसी सभ्यता की परख उसकी वास्तविक सम्प्राप्ति के अनुपात से होनी चाहिए—उसने मनुष्यों को कैसा जीवन और क्या अवसर दिए हैं। हमारा अपना अनुपात कम है क्योंकि हमारे अवसर बड़े विस्तृत हैं। शायद किसी और युग ने अपने अवसरों को इस तरह नहीं खोया है। हम अपनी भौतिक शक्ति और समृद्धि से धरती पर स्वर्ग उतार सकते हैं किंतु हमने उनका दुरुपयोग करके गन्दगी को और भी बढ़ा दिया है। हमने वातावरण को दूषित कर डाला है। संसार की आधी से ज्यादा आबादी पर दुख और अरक्षणीयता की छाया एक काले बादल के समान फैल चुकी है। ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भी हम उसको मानवी जीवन को सुधारने की ओर नहीं लगाते। सारा संसार आज एक अत्यन्त दुखद मनोविज्ञानीय अवस्था से गुज़र रहा है और हम धर्म को ताक में रखकर अपने मद में चूर अपनी मानवी भावनाओं को रात की रंगीनियों में डुबो चुके हैं।

पिछली पीढ़ी से मानवी जाति के भाग्य की उन्नति और विकास का विश्वास टूट चला है। ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और औद्योगिक

क्रांति के फैलने से उन्नीसवीं शती का आशावाद आज पुराना पड़ गया है। दो महायुद्धों ने पुरानी आस्था की जगह एक नए सन्देहवाद को पैदा कर दिया है। बहुत सी राजनैतिक और औद्योगिक बातों में पुरानी आस्था की धुन अब भी गाई जाती है किंतु वह निःशक्त हो चुकी है। अत्याधुनिक दर्शन में उन्नति के रूढ़ विश्वास पर सन्देह और इतिहास की क्रमिक की जगह आंगिक (organic) व्याख्या बहुत लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रही है। विश्व इतिहास के विशद अध्ययन से हमारी सभ्यता से मिलती-जुलती अन्य सभ्यताओं का पता चला है जो उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच कर सदा के लिए नष्ट हो गई। इससे यह विश्वास भी उठ चुका है कि हमारी सभ्यता सदा बनी रहेगी। ओसवाल्ट स्पेंग्लर, फ्लिंडर्स पेट्री और ऑर्नाल्ड टायनबी आदि की खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि हर संस्कृति और सभ्यता अपनी किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था से होती हुई एक ऐसी वृद्धावस्था पर पहुँचती है जब उसका अतिशय विस्तार होता है, उसमें अतिशय बौद्धिकता आ जाती है और एक दिन वह जर्जर होकर सदा के लिए नष्ट हो जाती है।

हेनरी आदम्स ने संकेत किया है कि उन्नति और विकास के नियम का विप्रतिकार (counteraction) सांस्कृतिक एन्ट्रोपी[1] (cultural entropy) कहे जाने वाले नियम से रहस्यमय ढंग से होता रहता है। एन्ट्रोपी भौतिक विज्ञान का एक नियम है। यदि एक पदार्थ ठंडा हो और दूसरा गरम तो उन दोनों को सम्पर्क में लाकर पहले को गर्म और दूसरे को ठंडा किया जा सकता है जब तक उनका तापक्रम तटस्थ न हो जाय; किंतु एक बार ऐसा हो चुकने पर इस व्यापार को उलटा नहीं जा सकता। पहले पदार्थ को फिर ठंडा और दूसरे को गर्म करने के लिए उन पदार्थों में कोई शक्ति नहीं रहती, हाँ बाह्य पदार्थों की सहायता से ऐसा फिर हो सकता है किंतु इस नए व्यापार में तापक्रम फिर तटस्थ हो जायगा। यही

---

१ **हेनरी आदम्स, दि डिग्रेडेशन आव् डिमोक्रैटिक डॉग्मा**

भौतिक घटनाओं पर भी लागू होता है। विश्व की सारी क्रियाएँ विरोध शक्तियों की इसी अन्तर्क्रिया और अन्तर्तटस्थता के कारण संभव होती हैं और एक बार तटस्थता आ जाने पर उनमें सक्रिय सम्बन्ध नहीं रहता।

भौतिक विज्ञान के इस तथ्य को इतिहास पर लागू करना ज्यादा उचित नहीं है। किंतु उसके लागू हो सकने की संभावना है। इस संभावना की पुष्टि बौद्ध, ताओ और यूनानी विचारधाराओं में मिलती है। इन विचारधाराओं के अनुसार किसी संस्कृति की आध्यात्मिक जीवन-शक्ति कुछ उत्प्रेरित लोगों में जाग्रत होती है; मनुष्य के भाग्य और इतिहास की सार्थकता की ईश्वरीय वाणी उन्हीं के द्वारा अभिव्यक्ति पाती है जिससे समाज जाग्रत होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है और इस आध्यात्मिक जागरूकता से अपनी संस्थाओं, कलाओं और विज्ञानों को जन्म देता है। और जब तक वह समाज अपने भाग्य को श्रेष्ठ और सर्वोपरि समझता है, जब तक उसकी आध्यात्मिक शक्ति तटस्थता प्राप्त नहीं करती, तब तक वह समाज जीवित रहता है, वर्धमान होता है और उन्नति करता है।

किंतु फिर उसमें जर्जरता आती है। आदर्श मँहगे होते हैं। उन्नति शक्ति के तटस्थ न हो सकने तक ही होती है। समय बीतने पर आदर्श सर्वविदित होने से ऐहिक बन जाते हैं, दर्शनों में उन्हें बौद्धिक रूप मिल जाता है और उनका भावार्थ नष्ट होने लगता है। आलोचना की कसौटी पर वे खरे नहीं उतर पाते। अब मनुष्य और समाज के भीतर ही व्यावहारिक, उपयोगितावादी या सुखवादी आदर्शों की खोज होने लगती है और मानवी उन्नति के नक्शे उनकी वास्तविकता के आधार पर बनने लगते हैं। किंतु नक्शों से जीवन का अर्थ नहीं समझा जा सकता। यहाँ पर आध्यात्मिक एन्ट्रोपी के नियम की पूरी अभिव्यक्ति हो जाती है। अब मनुष्य को संचालित करने वाले आदर्शों और उसकी आदतों में कोई सक्रिय प्राणमय भेद नहीं रह जाता। उसके आदर्श उसकी आदत और परिस्थिति का ही परिणाम बन जाते हैं। उसको किसी ऊँचे भाग्य की

ओर खींचने वाला सार्थक भेद नष्ट हो जाता है। अन्त में ऐसे मनुष्यों के समाज को नई शक्तियों की चुनौती के दबाव के सामने झुकना पड़ता है।

अनेक धर्मों में इस बात का संकेत मिलता है कि मानवी संस्कृतियाँ स्व-धारित नहीं होती। वे दिव्य शक्ति से जीवित रहती हैं। बौद्ध विचार-धारा में बताया गया है कि लगभग हर पाँच हज़ार वर्ष बाद मनुष्यों को जाग्रत करके उन्हें सही मार्ग पर लाने के लिए बुद्ध का आविर्भाव होता है। समय बीतने पर लोग बुद्ध की शिक्षाओं को भूलकर संसार के भ्रम और मोहजाल में पड़ जाते हैं। उस समय कुप्रवृत्तियों से अनासक्त कुछ लोग बुद्ध के आने की राह देखते हैं और अपने को मन, वचन और कर्म से पवित्र कर उसके स्वागत की तैयारी करते हैं।

यदि सांस्कृतिक एन्ट्रोपी को स्वीकार कर लिया जाय तो मनुष्य के लिए उसका क्या अर्थ होगा? क्या वह उस व्यापार का, उस गतिविधि का शिकार मात्र ही है या उसमें भाग लेने वाला और उसका अनुदाता है? एक अर्थ में दोनों है; यद्यपि एक सीमा तक वह वरण कर सकने में स्वतंत्र है और दायित्व रखता है किंतु इतिहास की भीमकाय पृष्ठभूमि पर एक मनुष्य के प्रयत्न साधारण हैं। मनुष्य मानव जाति का एक छोटा सा कण है और इतिहास की गतिविधि की शक्तियों के प्रभाव के सामने उसके वरण का प्रभाव अत्यन्त सीमित होता है। इतिहास में भाग लेने वाले की हैसियत से मनुष्य के अध्ययन में नियतिवाद का व्यंग्यात्मक पुट आ सकता है। मनुष्य के दो पक्ष हैं—प्राणी और विधाता, अपराधी और न्यायकर्त्ता, लहरों पर उछलता हुआ काग का टुकड़ा और समुद्र की छाती चीर कर अपना मार्ग निर्धारित करने वाला जहाज़। सांस्कृतिक पतन के काल में मनुष्य निष्क्रिय होकर ऐतिहासिक परिस्थिति का खिलौना बन जाता है। और इतिहास ने बीसवीं शती में रहने वाले हम लोगों के लिए कठिन मर्यादाएँ बाँध दी हैं। लेकिन हालतें जो कुछ हों फिर भी स्वतंत्रता का एक छोटा सा केन्द्रीय बिन्दु तो रहता ही है। हम जीवन को उन्नत और विकसित बनाने वाली शक्तियों का पक्ष क्यों न लें और उनमें आस्था

रक्खें और जहाँ तक हमारी मर्यादा आज्ञा दे उनको विजयी बनाने की चेष्टा क्यों न करें। कोई फल न निकलने से हमारे काम बेकार नहीं हो जायेगें। इतिहास में नष्ट और पुनरुज्जीवित करने की दोनों शक्तियाँ होती हैं; कभी एक शक्ति का आधिपत्य रहता है और कभी दूसरी का। जब अच्छी शक्तियों का ह्रास हो रहा हो हमें तब भी अपनी योग्यता के अनुसार अपना योग भरसक देना चाहिए; शायद पुनर्शक्तीकरण ऐसे समय आए जब हमें उसकी आशा तक न हो।